

epin Behari Paul

D CHINA BA/AR ST CAI CUTTA-1

Dated, _____ 195

Description	Rate	Rs	As	P
Sales Tax				
Total Rs				

Once sold can't be refunded

And oversight if any in prices charged please draw our
 attention for rectification

सनातन-जैन-ग्रन्थमाला पुष्प २४ ।

श्रीऋषभदेवाय नमः ।

श्रीसमन्तभद्रस्वामिविरचितः ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारः

श्रीप्रभाच द्वीयसंस्कृतटीकया

सिद्धांतशास्त्रि पण्डितप्रवर गौरीलालरचितै

पञ्जिकाटिप्पणीहिंदीभाषानुवादेः

हृदयगमेनाऽनुक्तं खिन्ना च समलकृत

म च

श्रीमत् श्रेष्ठिवर्य मोतचन्द्रात्मजसावलच द्रस्य ररगवासिन्या

धर्मपतया जङ्गमगई इत्यनया प्रदत्तस्हायतया

भारतीय जैनसिद्धांतप्रकाशिनी सस्थाया मन्त्रिणा

व्याकरणाशास्त्रि पण्डित श्रीरत्नकरणाचार्यविरचितेण

जैनसिद्धांतप्रकाशक पत्रिमुद्रणालये मुद्राप्य

१४८८ वाराणसीघोषट्टाट कलिङ्गात्तात

प्रकाशितः ।

श्रीवाराणसीः

१४८८

विक्रमांकः

१६६४

श्रीसमन्तभद्रभारतीस्तवनम्

सर्वमरीमि शोष्टमीमि नर्तमीमि भारतीम् ।

तृतीमि ययैमीमि वषणीमि तेऽमिताम् ॥

द्वराज्जनागराञ्चमर्त्यराञ्चपूजिताम् ।

श्रीसमन्तभद्रवाद्मासुरात्मगोचराम् ॥ १ ॥

मातृमानमेषसिद्धिवस्तुगोचरोस्तुवे ।

सप्तमगमानीतिगम्यतत्त्रगोचराम् ॥

श्रीषमार्गतद्विपद्यभूरिर्गमगोचरा-

मात्मतत्त्रगोचरां समन्तभद्रभारतीम् ॥ २ ॥

सूरिभक्तिचिदिताम्रपेयतत्त्रमाधिणीं ।

षारुकीर्तिभामुगम्बुपायतत्त्रमाधिनीम् ॥

पूर्यधस्रण्डनप्रचण्डयाग्विलासिनीम् ।

सस्तुवे जगद्दिवा समन्तभद्रभारतीम् ॥ ३ ॥

पात्रकेसरिप्रभासिद्धकारिणीं स्तुवे ।

मत्प्रकारपापितामलकृतां मुनीश्वरे ॥

शृङ्गपिच्छभाषितप्रकृष्टमगलार्थिकाम् ।

सिद्धसौम्यमाधिनीम् समन्तभद्रभारतीम् ॥ ४ ॥

१. स्व-रूपस्य बहुचोक्तं च, पुनः पुनः शृणु स्मरामि इत्यर्थः ।

२. धन-परियेष्टामि (पुनः पुनः शृणु वा परिवेष्टे इत्यन्वित्यर्थः ।

(४)

इन्द्रभूतिभाषितप्रमेयजालगोचरा ।

वर्द्धमानदशधनुद्विचिद्विलासिनीम् ॥

योगसौगतादिगवपवताशनि स्तुवे ।

क्षीरार्धिमन्निमां सम तभद्रभारतीम् ॥ ५ ॥

माननीतिराक्यसिद्धवस्तुधर्मगोचराम् ।

मानितप्रभासिद्धिसिद्धिसिद्धिसाधिनीम् ॥

घो भूरिदु खार्धितारणक्षगामिमा ।

चारुचेतसा स्तुवे सम तभद्रभारतीम् ॥ ६ ॥

सान्तनाधनाधनतमध्ययुक्तमध्यमां ।

शून्यभासमवेदितस्यसिद्धिसाधिनाम् ॥

हेतुहनुनादसिद्धराक्यजालमासुरा ।

मोक्षसिद्धये स्तुवे समन्तभद्रभारतीम् ॥ ७ ॥

व्यापकद्वयाप्तमार्गतत्त्वयुग्मगोचराम् ।

पापहारिवाग्दिलामिभूषणाशुक्ला स्तुवे ॥

श्रीकरीं च धीकरीं च सर्वसौख्यदायिनीम् ।

नागराजपूजितां सम तभद्रभारतीम् ॥ ८ ॥



श्री १०८ श्रीचन्द्रसागरजी महाराजका जीवनचरित्र ।

आप श्री १०८ श्री आचार्यवर्ग श्रीशक्तिसागर स्वामीके प्रधान शिष्य हैं। मुनिशुद्धमें आपकी सानोका दूसरा विद्वान् नहीं। गृहस्थ में भी बड़े बड़े पंडित कहलानेवाले आपकी बुद्धि को प्रणाम करते थे। आप धारों अयुयोगोंके प्रकाण्ड गण्डित और उग्र तपस्वी हैं। सृष्टि प्राप्त मराठी गुजराती भाषाये भी रूढ़ जाते हैं। आपकी उपदेश शैली बड़ी उत्तम प्रभावक है। आप मोक्षकी प्रधान साधनभूत सज्जानीयता, वषण्डवर्ष्याके रक्षक पोषक और नर्वाहक हैं इसलिये प्राय मोक्षमार्गविरोधी लोग आपसे अप्रमत्त हो जाते हैं परन्तु आप जिनामको आज्ञाके आगे किसीके रोय तोपना स्थल नहीं करते।

आपने शुभ तिथी पौष वदी १३ वि० सं० १९४० को शुभ नक्षत्रमें गण्डेलात जाति और श्रेष्ठ पहाड्या गोत्रमें नारगाय ग्राममें जन्म धारण किया है। आपके पिताका नाम श्रीनय-मलजी और माताका नाम सीता है। आपकी गृहस्थावस्थाका नाम छुशालचन्द्रजी पहाड था। आपने वि० सं० १९७८ में पेलक पन्नालाठकी समीप वारह व्रत धारण किये थे। इसके बाद कोनूर नगरमें पूज्य श्री १०८ श्रीशक्तिसागरजी महाराजके

(घ)

पवित्र उपदेशसे प्रतिमाके व्रत धारण किये । बादमें वि० सं० १९८० फागुण शुक्ल ७ वं दिन झरझरके व्रत धारण किये और आपका नाम बदलकर आचन्द्रसागरजी हो गया । वि० सं० १९८६ भाद्रपद सुदी १५ वें दिन आपने पवित्र सोनागिरि सिन्धु-क्षेत्रपर महाव्रत धारण किये । आपकी तपश्चर्या बहुत ही उच्च कोटिकी है । इस वर्ष (वि०सं० १९९४ में) आपने जयपुरमें सप्तम अतुर्गस किया है । आप जैनसमाजके गौरव बढ़ानेवाले आदर्श हैं ।



निरक्षि और अनुवादकारक



जातिभूषण सिद्धात शास्त्रा
पडितप्रवर गौरीलालजी पद्माकर ।

स्वस्ति श्रीप्रतिश्रुतादिकुलकरेभ्यः ।

निरुक्तिकार अनुवादकका परिचय

मधुरा प्रान्तमें बेरनो नामक निगम श्रीपार्श्वनाथ जिन-
चैत्यालयसे शामिल है, जहापर करीब ३०० वर्ष पहले एक
श्रीमकसी नामक सद्गृहस्थ निवास करते थे । जो कि पद्मावती
पुरवाल जात्युद्युम्ब पद्माकर गोत्रको अलङ्कृत करनेवाले थे ।
उनकी सतति प्रतिसततिमें श्रीशिवलालजीनामक प्रतिष्ठित सदा
चारी सज्जन हुए, जिनके रामनालजी और उदयराजजी नामक दो
पुत्ररत्न हुए जो कि शास्त्रस्वाध्याय, जिनपूजन और चर्चा-वार्ता
करनेमें उत्तुङ्ग रहते थे । जिनमे से ज्येष्ठ भ्राताके तनुज मनी
रामजी और गौरीलालजी हुए, तथा दूसरे भाइके प्यारिलालजी,
सोनपालजी, शंशीधरजी, खूबचन्दजी और नैमोचन्दजी पाँच
पुत्र-रत्न हुए । जिनको पिता और पितामहने हिन्दी गणित और
महाजनी पढाकर सस्कृत प्राकृत भाषाका भी परिज्ञान कराया ।
उनमेंसे प० गौरीलालजीने सदाचारपूर्वक विद्याध्ययन कर जो
अपने कर्तव्यका पालन किया है वह अथ भ्रान्तुवर्गिको भी
अनुकरणोप है जिनका परिचय इस प्रकार है ।

अनुवादकका परिचय

पंडित गौरीलालजीने अपने जन्मभूमिस्थ राजकाय स्कूलमें
पाचवीं कक्षा तक हिन्दी भाषाका अध्ययन किया । अनन्तर

अलीगढ़ दि० जैन पाठशालामें व्याकरण काव्य साहित्यका अध-
यन कर बनारसमें उच्च कोटिके 'मनोरमा शेषर फकिता
प्रकाश', न्याय, वैशेषिक, साय्य, साहित्यदर्पण आदि शास्त्रोंका
अध्ययन कर देहलीमें छात्रोंको अध्यापन कराते हुए कपडेका
व्यवसाय कर आजीविका करते रहे ।

कुछ दिन बाद पिताका वियोग होनेपर जवाहरातका भी
काम किया फिर स्वदेशी आन्दोलनके समय स्वदेशी कपडेका
पुन व्यवसाय शुरू कर दिया ।

अनन्तर जलेश्वरमें स्वदेशी कपडोंको तैयार करवा कर आगरा,
मालवा आदि प्रान्तोंमें खपत कराते रहे जिससे देशमें स्वदेशी
व्यापारमें उन्नतिलाभ कर अर्थलाभ बढ़ाया ।

विद्या प्रदान

आपकी प्रीति जैन धर्म-काव्य न्याय व्याकरण शास्त्रोंमें
अधिक बढ़ती रही जिससे अनेक भजनोंको प्रथमानुयोग,
करणानुयोग, धरणानुयोग, द्रव्यानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको
पढ़ाया अनन्तको सुनाया और विविध पाठशालाओंमें पढ़याने-
का प्रयत्न कराया । तथा भारतवर्षीय दिगम्बर जैन पराश्रान्त्यका
मन्त्रित्वपद स्वीकार कर १२-१४ वर्षतक परोक्षण निरीक्षण
कर विद्यार्थियोंको उत्तर्णपत्र, पारितोषिक प्रदान कर जैन-
व्याकरणादि शास्त्रोंका प्रोत्साहन बढ़ाया तथा भा० घ० दि०
जैन महाविद्यालयका मन्त्रित्व पद स्वीकार कर उसका सञ्चालन
। दि० जैन गुरुकुल तथा भारतवर्षीय दि० जैन पत्र-पत्रिका-

आचार

यद्यपि आपके सदाचार, जात्याचार और धर्माचार साधारणतया उत्तम प्रशसनीय हैं तो भी पारलौकिक धर्मको सिद्धिकेलिये आचार्य श्रीशानिसागरस्वामीके निकट सवत २४५८ में सप्तम प्रतिमाक घत भङ्गाकार किये जिससे कि जनतामें जात-चारित्र्यकी एकताको एकाधार कर प्रदर्शित किया।

आपने जैनसिद्धान्त-सम्बन्धी गूढ रहस्योंको, तथा जाति-व्यवस्था सम्बन्धी गति (Jain law) को स्पष्ट इंग्लिश राज्यशासनमें जजमेन्टका काम देवे इसके लिये ५० न-नूमलजी मला जैन ला विभागको भारतपर्यायन ला घानेमें सहायता दी। और उसके सरभमें प्रयत्न किया। तथा जाति पाति तोड़नेवाले त १ करेगा, धरेजा, पाट आदिका विवाह बताने वाले असदाचारियोंके फ-देसे बचानेके लिये समाचारपत्रों (स्थाद्धान्तगरी जैनगजट गण्डेश्वराल जैन हितेच्छु आदिमें तथा अपने सम्पादकत्वसे चलनेवाले जैनसिद्धान्तमें) लेख दे कर जैन-जनताको बचाया।

आपने श्री १०८ वदनाथ तपोनिधि चन्द्रसागर प्रभृति विद्वानोंके हृदयोंमें जैन-द्रव्याकरणको स्थापन (अध्यापन) जाग्रत कर अपनी कठिनतासे प्राप्त की हुई विद्याको बहुत काजके लिये जाउपहयमान किया। जिसके प्रभावसे त्यागी प्रतियोंमें जैन आप सम्पत्त प्राकृत माग में भाषामय आचार शास्त्रोंका तथा समस्तभारीय आचकाचारोंका प्रकाश फैलाया।

आजकल 'श्रीव रसवत्' जिनके जो पद्वति हैं, यह

आपके प्रयत्नस हा चालू हुई। धर्मिकीयमे प्रत्यक्षयाधम हस्तनाग-
पुरकी नाव डालनेमें आपसा यत्न प्रधान था।

कैलाश धामसे २० - २५० प पूर्ण आग विद्याक पठन पाने
का, गणोपनिषद् संहारोंका तथा मुनि धार्मिकीय भावक
धर्मिकीय अक्षर-विचारको प्रवृत्ति अज्ञान अंधकारसे
ढक गई था और जैन धार्मिक जातिपा उगमगा रही थीं उनको
हस्ताग्रहण देनेके लिये (तथा ज्ञान्याचार कुलाचार धर्मा-
चार दण्डोंके लिये) श्रीशांतिमामर जैसे आचार्यों को हि दु-
स्थानमें विहार करनेका सुभवसर प्राप्त हुआ। तथा उनके
सधर्म्य मुनिराजोंका इधर उधर घ्यातरूप व्याख्यानोंके होनेका
यत्न पत्रातादि सस्कार, पतिमारूप चारित्र्योंका प्रवृत्त और महा-
प्रतोंक धारण करतका विधान हीनसे जैनधर्ममें प्रभावना बढ़ी
तथा जनत'की धारकसम्बन्धो आचार-विचारों'नी जैन आर्ग-
आम्नायानुमार प्रगट जाननेको उत्कण्ठा हुई इसलिये हम
रत्नकरण्ड-भावकाचारकी श्री १०८ प्रमाच द्राया रचित संस्कृत
टीका सहित तथा वर्तमान देगमायाम धर्म और उन चारिकाओं-
के गूढ अर्थमया वाक्योंकी प्रगट निकटि द्वारा पदार्थोंकी
वतानेताल अत्रयार्थक साथ निकल लिखा। यह नामस्त भव्य
रुततिकी लाभकारी होवे इसलिये इसको पुस्तकाकार तयार कर
प्रकाशित किया गया है। जिससे जैन जनता (विद्यार्थी और
प्रशार्थियों) के अज्ञानाधकार दूर होकर शुद्ध अनादिनिघ्न
पद्म माग उपासकाध्ययन सम तमद्वीय उपासकाध्ययन भावका
चारसे विमुक्ति होकर इल्लोक और परलोकमें अभ्युदयका
बढती हुई निश्चयस मागमें मलग्न रही। विनात -

कीर्तिध्वनि

भोरण (महमदावाद) निवासी स्वर्गीय धोमान् शेट मोतीचन्द्र साकल्यचन्द्रजीकी धर्मपत्नी जहापबाइने मृत्यु-समय पाचसी रूपये ज्ञानावरणीय कर्मके क्षयोपशमार्थ शास्त्रोद्धार करनेक लिये दिये थे । उक्त द्रव्यसे प्रथमयी (तत्त्वानुशासन, वैराग्यमणिमात्रा और इष्टोपदेश) प्रथम का जीर्णोद्धार किया गया था, उमकी धाइ न्योछावरसे प्रमथ नित्यनियमपूजा मार्थ एव ग्रहउच्चैरनित्यपाठसप्रह प्रकाशित कराये गये एव इन प्रर्थीका भाइ न्योछावरसे पुनः भाज यह चौथा प्रथम रत्नकरणःधावकागर प्रमाचन्द्रीय सास्त्रतटीका तथा सिद्धांतशास्त्रा १० गौरीनाल जी रचित पत्रिका, टिप्पणी एवं हि शो भाषानूयादादि सहित प्रकाशित किया जाता है ।

सस्थामें दान किये गये द्रव्यसे दानाका इच्छानुसार प्रथम प्रकाशित कर लागतमात्र न्योछावरसे नालाधारणको दिये जाते हैं और उनका सम्पूर्ण द्रव्य उठ जानेपर दूसरा प्रथम छपाया जाता है ।

इसप्रकार एक बार दिये गये दानसे स्वेकडा वर्गवर्ग त जैनशास्त्रोंका प्रचार होता रहेगा अतः इस परिपाटामें लाभ उठानेकी इच्छा रखनेवाले भाइयोंको कृपा भो एव जैनशास्त्र उद्धार करनेकलिये सहोपता देना चाहिये ।

पाठकोंसे अनुरोध ।

१- यह यन्त्रित श्रावकाचार ग्रन्थ आपके सम्मुख विराजमान है। इसमें दृष्टिदोष, अशोधनकी भूल, प्रेसकी असावधानी एवं अज्ञानता आदि कारणोंसे अशुद्धि रह जाना सम्भव है अतएव विश्व पाठक शुद्ध कर पढ़ पढ़ वे और सुनाय ।

२- प्रभाव-द्रोय सस्कृत टोक, निरुक्ति और टिप्पणीक पक्षों व धर्णों की शुद्धता -अशुद्धता परस्पर (एककी दूसरेसे) जान कर शुद्धताकी ग्रहण कर चक्षुष्यार्थ करे ।

३- जो पद, वाक्य तथा अर्थ अपने जाने हुए अर्थसे 'यत्क्षण चचे उ'की सस्कृत श्रीप्रभाव-द्रोय टोकासे जात करना । फिर भास-तोष नहीं होवे तो अन्य भाषा-सूत्र-प्राकृत ग्रन्थोंसे मिलाकर अधिकरोधो बननेका प्रयत्न करे ।

नाशा है ग्रन्थों, गितक और विद्यार्थीगण दोषग्राहक न बने वे किन्तु इसक समान दोषरहित विवेकी गुणग्राहक बनगे ।

यदि धार्मिक बन्धुयुवकोंने इस ग्रन्थसे लाभ उठाया तो अपना प्रयास सफल समझेगे ।

श्लोकोंकी अकारादि क्रमसे सूची

इतिवाहनातिसग्रह-	१०६	इदमेवेद्वृत्तमेव	१६
य दिवा रजनी वा	१५२	उद्योगोत्र प्रणते	१६३
नीत्माय विना गी	१४	उपसर्गे दुर्भिक्षे	२०१
नुमतिरारम्भे वा	२३८	ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग्	१३१
िताक्रियाधिकरणं	२१०	एकांते सामि क	१६६
नं पान खाद्य	२३८	शोजस्तेजो विद्या-	६७
मयविद्याहाक् ऽण-	१०३	क-द्वय कीत्कुच्यं	१४२
यूनमनतिरिक्त	७८	कर्मपरवशे साते	२१
प्रम्यतर दिगयधे-	१३३	कापधे पथि दु सा ।	२४
ममरासुरनरपतिभि-	७२	काले कल्पशतऽपि च	२२३
मपफलबहुविघाता-	१४८	क्षितिगतमिषयटवानम्	१६४
भयधैर्यद्विरणुपाप	१२६	क्षितिसलिलदहनपथना-	१६४
भरणमशुभमनित्ये	१७८	क्षुत्पिपासाजरातंक्-	६
अणुगुणपुष्टितुष्टा	६६	खरवानहापनामपि	२१५
भर्षणसपया-	२५	गृहकर्मणामपि निवित्त	१६२
अश्वादीनां परिस्-	१४३	गृहणविसर्गास्तरणा-	१८६
अज्ञानतिमिरव्याप्ति-	५६	गृहतो मुनियनमित्वा	२४६
आपगासागरस्नान-	४८	गृहमेध्यतगराणां	८
आप्तनोत्स नशोषेन	८	गृहस्था मोक्षमास्थो	५३
आप्तापशमपुल्लङ्घ्य-	१५	गृहहारिप्रामाणा	१५६
आरम्भसगसाहस-	१३६	गृहि । त्रेषा तिऽत्प-	६१
आठोक्त्य सर्वमन	५१२	चतुरा र्तत्रितय-	२३२
आत्ममयमुक्तिमुक्त	१६४	चतुराहारविसजन-	१८५
आहारौलघोर-	१६६		
परिहाय्य	२१५		

चौरप्रयोगचौराधां-	१०१	नवपुण्ड्रे प्रतिपत्त
छेदनवधनपीडन-	६६	न सम्पत्त्वसम किञ्चित्
अमज्जराभयमरणैः	२२०	नाङ्गदानमल छेत्त
जोधितमरणाशसे	२१७	नियमो यमश्च विहितौ
जीवाजीवसुतत्वे	६४	निरतिक्रमणमणुयत-
ज्ञान पूजा कुल जातिं	५२	नि श्रे यसमधिपना-
ततो जिने द्रमत्तोऽन्यो	३०	नि श्रे यसमभ्युदय
सावदञ्जनचौरोऽङ्गे	३१	निहित धा पतित धा
तिर्य्यककलेशवणिउपा-	१३५	परमेष्ठो पर ज्योति
प्रसहतिपरिहरणार्थ	१४७	परशुवृपाणखनिन्न-
दर्शनाच्चरणाद्वावि	२६	परिचादरहोम्यास्था-
दर्शन ज्ञानचारिवात्	६१	पर्वण्यप्यस्या च
दान घैपावृत्त्य	१८७	पर्वदिनेषु चतुचपि
दिग्मलय परिगणित	१२४	पपोपदेशहिंसा-
दिग्प्रतमनर्ध पट्ट-	१२३	पापमरतिर्धर्मो
देशादिदेशचरणे	५०३	पूजार्थांशे श्वर्ये-
देशे द्रव्यकर्महिमानममेयमानम्	७६	पचाणुघतनिधपो
देशयामि समीचान	४	पचाना पापाना
दशावकाशिक धा	१५७	पचाना पापाना-
दशावकाशिक स्यात्	१५८	प्रत्याख्यानतनुत्वा-
धनधा यान्नि प्र ध	१०१	प्रथमानुयोगमथा-
धनश्रीसत्यगोपी च	११३	प्राणतिपातवितथ -
धर्मासृत् सत्पण	१८३	प्रेषणशस्त्रानयन
न तु परदागन् गच्छति	१०२	वधवधच्छेदादे-
नम धावर्धमानाय	१	भयाशास्त्रहलोमाच्च
नरनिधिसप्तद्वयरत्ना-	७१	भुक्त्वा पारदातव्या

श्रीजनवाहशयन-	१५२	श्रद्धान परमाधानां
अकराकरमरिद्वर्षी	१२५	धायकपद् नि देवैः
नद्यमासमधुत्यागौ	१२१	ध्रावेणवृषभसेने
मलयोज मलयोनि	१३६	श्वापि देवोऽपि दध श्वा
मातङ्गो धनदेवश्च	१०८	मकल त्रिकल चरणं
मूलफलशाकशाखा-	२१७	सप्रन्धारम्भहिसाना
सूर्धसहमुष्टिवास्ते	११६	सदुष्टं प्लहानघृत्तानि
मोक्षतिमिरापहरणे	८६	मभ्याद्शनशुद्धा-
यद्निष्ट तद् प्रतयद्	६७	सभ्याद्शनशुद्ध
यदि पापनिरोधोऽय-	५२	सभ्याद्शनमभ्य -
येन स्वय वीतकलकविद्या	२४६	सामाधिके सारम्भ
रागद्वेषनिवृत्ते -	८७	सामा यक प्रतिदियस
लोकालोक विभक्ते -	८२	सोम-ताना परत
वरोपनिष्मयाशावान्	४६	सुखयुत सुखभूमि
याकहायमानमाना	१७६	सेवाट्टविद्याणिश्य-
वाह्येषु दशसु घस्तुषु	२४२	सकटपादहृत्कारित-
विद्यादर्शनशक्ति-	२२१	सघटभरमृतुमयन
विद्यावृत्तस्यसमृत्ति-	६२	शूत्रमतीक न घदति
विषयनिप्रतोऽनुपेक्षा-	११५	स्नह धैर सद्ग
विषयाशाघशातीतो	१८	स्मयेन याऽयानत्यति
व्यापस्त्रिष्य-नोद-	१८६	स्वभावतोऽशुनी काय
व्यापारचैमनस्याद्	१७०	स्वस्थ्यान्प्रति महभाघ-
	७१	स्वच्छुद्धस्य मागस्य
०	१७१	हरितविधाननि ।ने
भयमवसाद	२१४	हिसान् चौदभ्या



एवस्ति श्रीसमन्तभद्रस्वामिभ्य ।

रत्नकरण्डश्रावकाचार

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य निर्मित टीकयाऽलकृत ।
अन्वयार्थेन निरुक्तेन पञ्जिकाया च विभूषित ॥



समन्तभद्र निखिलात्मनोधन,
विन प्रणम्यात्खिलसर्मशोधनम् ।
निघन्धन रत्नकरण्डके पर,
करोमि भग्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकग्रन्थस्य
सम्पदशुभादिरत्नानां पालनोपायभूत रत्नकरण्डकाख्य शास्त्र कर्तु-
कामो निर्वृणत शास्त्रपरिसमाप्त्यादिरु फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष
नमस्तुर्वन्नाह, —

नम श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकाना त्रिलोकाना, यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

भाङ्गनवाहनशयन-	१५२	श्रद्धान परमाधाना	७
मकराकरसरिद्वयौ	१२५	श्रावणपद नि द्वयै	२२८
मघमांसमधुत्यागी	१२१	श्रापेणरूपमसेने	११६५
मलदोज मलयोनि	१३६	श्रापि द्रोऽपि द्वय श्या	५८
मातङ्गो धनदेशश्च	१०८	सकल विकल चरण	६०
मूलफलशाकशाखा-	२१७	सप्रधारम्भहिसाना	५०
मूर्धरुहमुष्टिवास्ते	११६	सद्गृह्णित्वानप्रचारि	५
मो०तिमिरापहरणे	८६	सम्यादशनशुद्धा-	६८
यदनिष्ट तद् प्रतपद्	६७	सम्यादशनशुद्ध	२२६
यदि पापनिरोधोऽय-	५४	सम्या शनसम्पन्न -	७७
येन स्वय वीतकलकविद्या	२४६	सामायिके मारम्भ	१७३
रागद्वेषनिवृत्ते -	८७	सामायिक प्रतिद्विषस	१७२
लोकालोक विमर्शे -	८२	सामान्ताना परत	१६२
चरोर्षि० प्लषाशावान्	४६	सुखयुत सुखभूमि	२५१
चाषण्यमानसाना	१७६	सेवावृत्तियाणिउय-	१४१
बाह्योपु शशसु धरतुषु	२४२	सकपाटवृत्कारित-	६४
विद्यादर्शनगति-	२-१	संवत्सरमृतुमयन	११०
विद्यावृत्तस्यसंभूति-	६०	स्थूलमूर्तिक न चदति	६७
विषयत्रियतोऽनुपेक्षा-	१०५	स्नह वैर सङ्ग	२१२
विषयाशाधशातीतो	१८	स्मयेन योऽयानत्यति	५३
व्यापशिष्य०नोद-	१८६	स्वभावतोऽशुची काय	२
व्यापारधमनस्याद्	१७०	स्वदृष्ट्या प्रति सद्भाय	२७
शिवमन्त्रमरुजमक्षय-	७३	स्वर्दशुद्धस्य मागस्य	१५
-	१७१	हरितपिधाननि ने	२०७
भयमवसाद	२१४	हिसान चोदभ्या	८६



एतस्ति श्रीसमन्तमद्रस्यामिम्य ।

रत्नकरण्डश्रावकाचारः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्य निर्मित टीकयाऽलकृत ।
अन्वयाथेन निरुक्तेन पक्षिकया च विभूषित ॥



समन्तमद्र निखिलात्मबोधन,
जिन प्रणम्याग्विलकमशोधनम् ।
निबन्धन रत्नकरण्डके पर,
करोमि भव्यप्रतिबोधनाकरम् ॥ १ ॥

श्रीसमन्तमद्रस्यामी रत्नाना रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकग्रन्थस्य
सम्यदर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूत रत्नकरण्डकास्य शास्त्र कर्तु-
कामो निर्बिघ्नत शास्त्रपरिसनाप्यादिक फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेष
नमस्तुर्वताह, —

नम श्रीवर्द्धमानाय, निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकाना त्रिलोकाना, यद्विद्या दर्पणायते ॥ १ ॥

‘नमो’ नमस्कारोऽस्तु । तस्मै १ ‘श्रीवर्द्धमानाय’ आर्त्तमत्ता
 र्थेद्धाराय तीर्थंकरसमुदायाय वा । कथं २ अत्र—समं तद्द परमातिशय
 प्राप्त मान केषलज्ञान यस्यासौ उद्यमान । ‘श्रयाप्योग्लोप’ इत्यव-
 शदाकारलोप । श्रिया त्रहिरङ्गयाऽतरङ्गया च ममत्रगरणान तत्र
 तुष्टयलक्षणयोपलक्षितो वर्द्धमान श्रीवर्द्धमान इति व्युत्पत्त, तस्मै
 कथभूताय ३ ‘निर्धूतकलिलात्मने’ निर्धूत स्फोटिन कलिल ज्ञानावर-
 णादिरूप पापमात्मन आत्मना त्र भव्यजीवना येनाऽस निर्धूतकलि-
 लात्मा तस्मै । यस्य त्रिधा केषलज्ञानलक्षणा क्रियरोति ४ ‘दर्पणा-
 यने’ दर्पण इवात्मानमाचरति । केषां ५ ‘त्रिलोकानां’ त्रिभुवनानाम् ।
 कथभूतानां ६ ‘सालोकानां’ अलोकानां संहितानाम् । अयमर्थ—यथा
 दर्पणो निजेन्द्रियागोचरस्य मुखाद प्रकाशकस्तथा सालोकरत्रिलोकाना
 तथाविधानां तद्विधा प्रकाशकति । अत्र च पूर्वार्द्धेन भगवत स्रज
 तोपाय, उत्तरार्द्धेन च स्रजतोत्ता ॥ १ ॥

अन्वयः—श्रीवर्द्धमानाय नम भवतु । कथभूताय श्रावद्धमा-
 नाय निर्धूतकलिलात्मने । यद्विधा सालोकानां त्रिलोकानां दर्पणायत्ने ।

निरुक्ति — वद्धते इति वर्द्धमान श्रीसहितो वद्धमान स श्री
 वर्द्धमान । तस्मै श्रीवर्द्धमानाय । निर्धूतानि कलिलानि घातिकर्माणि

१—यष्टुट पृद्धो, इति घो म-७७ १ शशश इति शान् त्य ।
 वर्द्धमान समतितीषा कर, तथा च । समतिगर्हनिर्वीरो,
 महावीरोऽन्त्यनाशयप । नाथान्वयो वर्द्धमानो यत्तो धामिह

२। इति धनश्रयनाममाला । ३ उपपद्यिमक्तया यष्ट्या
 “शुभताधनम स्वस्ति स्वाहा यपट ग्वधादिते” शशश

(चतुर्थो विमत्तो)

आत्मन असौ निर्धूतकलिलात्मा तस्मै निर्धूतकलिलात्मने । अथवा
निर्धूतानि कलिलानि पापकर्माणि यस्य स निर्धूतकलिः । सवा-
सौ आत्मा स्वरूपो यस्मासौ तथा तस्मै । अलोकेन सहिता, सालोकाः
तेषां सालोकानाम् । त्रयो लोका त्रिलोकाः तेषां त्रिलोकानाम् ।
यस्य त्रिया यद्विद्या । दर्पण इव आचरति इति दर्पणार्थे ॥१॥

अर्थ — श्रीवर्द्धमान स्वामीकी नमस्कार होगे । किस
प्रकारके वर्द्धमान तीर्थकरको ? जिन्होंने चारधातिया कर्म
नष्ट कर डाले हैं और जिनका ज्ञान अलोकाकाश तथा
तीनों लोकोंके सर्व पदार्थोंको दर्पणके प्रतिबिम्बके समान
प्रगट करानेवाला है ॥१॥

विशेष—दर्पण तीन प्रकारके होते हैं । सूक्ष्मदर्शी१,
प्रतिहतदर्शी२, दूरदर्शी३ । जिससे सूक्ष्म (वारीक)
स्कन्ध (जीर्णज्वर गलेके रुधिरम बढे हुवे सूक्ष्म अवयव)
तथा शरीरी जीवोंके अंग प्रत्यगोंको स्थूलरूपसे देख सके
उसे सूक्ष्मदर्शी (Microscope=माईक्रोस्कोप सुर्दवीन)
कहते हैं । दूरदर्शी जिससे शरीरके मध्यवर्ती चर्म रुधिर मांस
आदिसे ढके हुवे (छिपे हुवे) अस्थि (हाड) नशा जाल
आदिका प्रतिबिम्ब लेकर उससे उनकी विकृति स्थस्थता
(स्थिरता) आदिको देखमके वह प्रतिहतदर्शी (X Ray=

१-मानोच १३१२४६ इति सहस्य स आदेश ।

२-‘ष्यट् च’ २।१।२ इति ष्यट् स्य “तदन्ता धवः”
२।१।४ इति ध्रु सञ्ज्ञा “डैदितो दः” १।२।६ इति द ।

एकसरे) दर्पण है । तीमरा जिससे दूरवर्ती देशोंमें स्थित पर्वत वृक्ष जहाज मनुष्य पशु पक्षी आदिको देखनेके— प्रतिबिम्ब लेनेके वह दूरदर्शी दर्पण (Telescope=टेलस्कोप) है

लोकम जो इन्द्रियोंके अगोचर पदार्थ हैं वह भी तीन प्रकारके हैं । सूक्ष्म पदार्थ जैसे कार्माणवर्गणा, वैक्रियिकवर्गणा आदि सूक्ष्म । प्रतिष्ठित पदार्थ जैसे पर्वत भूमि मिट्टी आदिके पश्चात् भागमें स्थित अथवा वर्ष युग कल्प आदि कालसे पहिलेके पदार्थ जैसे रामचन्द्र सीता मरुत वर्धमान आदि महापुरुष । दूरवर्ती पदार्थ जैसे सख्यात असख्यात कोशों दूर देशोंमें स्थित सुमेरुपर्वत, नन्दीश्वर द्वीप, स्वयम्भूरमण, सौधर्मस्वर्ग, ब्रह्मलोक इत्यादि तथा सख्यात असख्यात वर्षोंके पहिले अतीत कालादिमें होते हुवे कुलकर तीर्थकर राम रावणादि महापुरुष । इन सब प्रकारकी वस्तुओंको जो तीनों लोकोंमें हैं थीं और हांगीं उनको वह श्रीवर्द्धमान स्वामी का फडा हुआ श्रुतज्ञान हम छद्मस्यज्ञानियोंको दर्शाता है । इसलिये इसकी उपर्युक्त दर्पणकी समान उपमा बताई है ।

अथ तन्मस्कारकरणान्तर किं कर्तुं लभो भवानित्याह—

धर्मापदेश करनेकी प्रतिज्ञा

देशयामि समीचीनं, धर्म कर्मनिवर्हणम् ।

५. १७ १८१ सत्त्वान्, यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

‘देशयामि कथयामि । कमः ‘धर्म’ । कथभूतः ‘समीचीन’
अवाधित तदनुष्ठातृणामिह परलोके चोपकारकम् । कथं त तथा
निश्चितवतो भवन्त इत्याह ‘कर्मनिवर्हण’ यतो धर्मः ससारदुःख-
सम्पादककर्मणा निवर्हणो विनाशकस्ततो यथोक्तविशेषणविशिष्ट ।
अमुमेवार्थं व्युत्पत्तिद्वारेणास्य समर्थयमानः ससारेत्याद्याह । ससारे
चतुर्गतिके दुःखानि शारीरमानमार्शनि । तेभ्यः ‘सत्त्वान्’ प्राणिनः
उद्धृत्य ‘यो धरति’ स्थापयति । कः ‘उत्तमे सुखे’ स्वर्गापवर्गादि-
प्रभवे सुखे, स धर्म इत्युच्यते ॥ २ ॥

अथय — अहं समीचीन धर्मं देशयामि । कथभूत धर्मः कर्म-
निवर्हणम् । यः सत्त्वान् ससारदुःखत उत्तमे सुखे धरति ।

निरुक्ति — कर्माणि निवर्हयति इति कर्मनिवर्हणं तम् कर्मनि-
वर्हणम् । तत्पुरुषः । ससारस्य दुःखानि इति ससारदुःखानि तेभ्यः
ससारदुःखत ॥ २ ॥

अर्थ — मैं समतभद्राचार्य समीचीन धर्मको कहता हूँ ।
कैसा है वह धर्म ? मोहनीय आदि कर्मोंका नाश करनेवाला
है तथा प्राणियोंको जन्ममरणरूपी दुःखोंसे छुटाकर उत्तम
अविनश्वर शाश्वत सुखमें रखनेवाला है ॥ २ ॥

अथैवविधधर्मस्वरूपता कानि प्रतिपद्यन्त इत्याह-

धर्मका लक्षण

सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि, धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।

यदीयप्रत्यनीकानि, भवन्ति भवपद्धति ॥३॥

दृष्टिश्च तत्कार्यश्रद्धान, ज्ञान च तत्कार्यप्रतिपत्ति, वृत्त च चारित्र्य पापक्रियानिवृत्तिलक्षण । सति समीचीनानि च तानि दृष्टि-ज्ञानवृत्तानि च । 'धर्म' उक्तस्वरूप 'विदु' विदित प्रतिपद्यन्ते । के ते ? 'धर्मेश्वरा' रत्नत्रयलक्षणधर्मस्य इश्वरा अनुष्ठातृत्वेन प्रतिपादकत्वेन च स्वामिनो जिननाया । कुतस्तायेव धर्मो न पुनर्मिथ्यादर्शनादीन्यपीत्याह—यदीयेत्यादि । येषां सदृष्ट्यादीनां सम्प्रचीनीयनीयानि तानि च तानि प्रत्यनीकानि च प्रतिकृतानि मिथ्यादर्शनादीनि 'भवन्ति' सम्पद्यन्ते । का ? 'भवपद्धति' ससारमार्ग । अयमर्थ —यत सम्यग्दर्शनादिप्रतिपक्षभूतानि मिथ्यादर्शनादीनि ससारमार्गभूतानि । अत सम्यग्दर्शनादीनि स्वर्गोपवगन्तव्यसाधकत्वाद्धर्मरूपाणि सिद्ध्यन्तीति ॥ ३ ॥

अवयव —धर्मेश्वरा सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्म विदु यदीयप्रत्यनीकानि भवपद्धति भवन्ति ॥

निरुक्ति —धर्मस्य इश्वरा धर्मेश्वरा । दृष्टिश्च ज्ञान च वृत्त च दृष्टिज्ञानवृत्तानि । सति च (समीचीनानि) यानि दृष्टिज्ञानवृत्तानि इति सदृष्टिज्ञानवृत्तानि । येषाम् इमानि यदीयानि, यदीयानि च प्रत्यनीकानि इति यदीयप्रत्यनीकानि । भवस्य पद्धति भवपद्धति ॥३॥

१-धर्मस्य उपमातार अहत्त । २-दर्शनज्ञानचारित्र्याणां विरोधीनि मिथ्यादर्शनमिथ्याज्ञानमिथ्याचारित्र्याणि ।

३-समारमाग ।

अर्थ-जिनेन्द्रदेव सम्पद्दर्शन सम्पद्ग्वान और सम्पद्चारित्रको धर्म कहते हैं । इनके जो उल्टे हैं (विरोधी दुश्मन हैं) वे सत्सारेके मार्ग हैं ॥ ३ ॥

तत्र सम्पद्दर्शनस्वरूप व्याख्यातुमाह-

सम्पद्दर्शनका लक्षण

श्रद्धानं परमार्थाना-माप्तागमतपोभृताम् ।

त्रिमूढापोढमष्टाग, सम्पद्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

सम्पद्दर्शन भवति । किं ? 'श्रद्धान' रुचि । केपाम् ? 'आप्तागमतपोभृता' वक्ष्यमाणस्वरूपाणाम् । न चैत्र पट्टव्यसमतस्वनव-पदायाना श्रद्धानमसगृहीतमित्याशङ्कनीयम् आप्तागमश्रद्धानादेव त-श्रद्धानसप्रहप्रसिद्धे । अत्राधितार्थप्रतिपादकमाप्तवचन आगम । नच्छ्रद्धाने तेषां श्रद्धान मिद्धमेव । किं विशिष्टाना तेषाम् ? 'परमार्थानाम्' परमायभूताना न पुनर्गद्वादिमत इव कल्पितानाम् । कथभूत श्रद्धान ? 'अस्मयम्' न विद्यते वक्ष्यमाणो ज्ञानदर्पाद्यप्रकार स्मयो-गवा यस्य तन् । पुनरपि किं विशिष्ट ? 'त्रिमूढापोढ' त्रिभिर्मूढैर्बक्ष्य-माणाल-भणैरप्रोढ रहित यत् । 'अष्टाग' अष्टौ वक्ष्यमाणानि नि श-क्तित्वादीन्यङ्गानि स्वरूपाणि यस्य ॥ ४ ॥

अन्वय - आप्तागमतपोभृता श्रद्धान सम्पद्दर्शन भवति । कथ भूतानाम् आप्तागमतपोभृताम् परमार्थानाम् । कथभूत श्रद्धान त्रिमूढापोढ पुन- अस्मयम् । कथभूत सम्पद्दर्शनम् अष्टाङ्गम् ।

निरुक्तिः-आप्तागमश्च आगमश्च तपोभृच्च इति आप्तागमतपोभृताः, तेषाम् आप्तागमतपोभृताम् । परम, अर्थो येषां ते परमार्था तेषाम्

मार्धानां । त्रयो मूढा इति त्रिमूढ । त्रिमूर्तेभ्य अपोढ स त्रिमूढापोढ तम् त्रिमूढापोढम् । अष्टौ अगानि यस्य तत् अष्टाङ्गम् । न सति स्मया यस्मिन् वा यस्य तद् अस्मयम् ॥४॥

अर्थ-अरहतदेव जिनागम और निग्रन्य गुरुका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है । कैसे है वे तीनों, चारों अर्थोंमेंसे मोक्ष ही है अर्थ जिनोंका । कैसा है वह श्रद्धान ? तीन मूढ़ताओंसे रहित है तथा आठ मर्दोंमें रहित है । कैसा है सम्यग्दर्शन ? जिसके आठ अंग है ।

तत्र सदृशनविषयतयोक्तस्याप्तस्य स्वरूप व्याचिरुयासुराह—

आप्तता लक्षण

आप्तेनोत्सन्नदोषेण, सर्वज्ञेनागमेशिना ।

भवितव्य नियोगेन, नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥५॥

‘आप्तेन’ भवितव्य, ‘नियोगेन’ निश्चयेन नियमेन वा । किं विशिष्टेन ? ‘उत्सन्नदोषेण’ नष्टदोषेण । तथा ‘सर्वज्ञेन’ सबत्र विषयेऽशेषविशेषतः परिस्पुष्टपरिज्ञानवता नियोगेन भवितव्यम् । तथा ‘आगमेशिना’ भव्यजनानां हेयोपादेयतत्रप्रतिपत्तिहेतुभूतागमप्रतिपादकेन नियमेन भवितव्यम् । कुत्र एतदित्याह—‘नान्यथा ह्याप्तता भवेत्’ ‘हि’ यस्मात् अ यथा उक्तविपरीतप्रकारेण, आप्तता न भवेत् ॥ ५ ॥

१-काव्यादिभि १३३३ इति कायसः पञ्चमी तत्पुरुषः
न तु तृतीया तत्पुरुषः ।

व्याधि । जन्म च कर्मवशाच्चतुर्गतिपूत्पत्ति । अतः कश्चिन्मृत्यु । मय
 चेहपरसोकात्राणागुप्तिमरणवेदाऽऽकस्मिन्कलक्षणम् । स्मयश्च जा
 तितुलादिदर्प । रागद्वेषमोहा प्रसिद्धा । चशब्दाच्चित्तारतिनिद्रावि-
 स्मयमदग्निपादस्वेदस्वेदा गृह्यन्ते । एतेऽष्टादशलोपा यस्य न सन्ति
 स आस 'प्रकीर्यते' प्रतिपाद्यते । ननु चात्म्य भवेत् तुत्,
 क्षुद्रभावे आहारादी प्रवृत्त्यभावाद्देहस्थितिर्न स्यात् । अस्ति चासो,
 तस्मादाहारसिद्धि । तथा हि । भगवतो देहस्थितिराहारपूर्विभा,
 देहस्थितिरादस्मदादिदेहस्थितिः । जनेनोपते अत्र निमाहारमात्र
 सा यते कत्रलाहारो वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाधनता आसयोगवेचनिन
 आहारिणो जीवा इत्यागमाभ्युपगमात् । द्वितीयपक्षे तु देवदेहस्थित्या
 व्यभिचार । देषाना सर्वदा कत्रलाहाराभावेऽप्यस्या समथात् । अथ
 मानसाहारात्तथा तत्र स्थितिस्तर्हि कैवलिनां कर्मनोऽर्माहारात् सास्तु ।
 अथ मनुष्यदेहस्थितित्वादस्मदादिः सा तत्पूर्विका इष्यते तर्हि तद्देव
 तदेहे सर्वदा नि स्वेदरागमाय स्यात् । अस्मदादावनुपलब्धस्यापि
 तदतिशयस्य तत्र समवे मुक्त्यभारलक्षणोऽप्यतिशय किं न स्यात् ।
 र्किं च अस्मदादौ दृष्टस्य धर्मस्य भगवति सम्प्रसाधने तज्ज्ञानस्यैन्द्रि-
 यजनितत्वप्रसंग स्यात्-तथा हि भगवतो ज्ञानमिन्द्रियज ज्ञानत्वात्
 अस्मदादिज्ञानवत् । अतो भगवत कैवलज्ञानलक्षणातीन्द्रियज्ञानास
 मवात् सर्वज्ञत्वाय दत्तो जलाजलि । ज्ञानत्वानिगोपेऽपि तज्ज्ञान-
 उपातीन्द्रियत्वे देहस्थितित्वाऽनिगोपेऽपि तदस्थितेरकषलाहारपूरकत्वं
 किं न स्यात् । वेदनीयसद्भावात्तस्य बुभुक्षोत्पत्तर्भोजनादी प्रवृत्तिरित्यु-
 क्तिरनुपपन्ना मोहनीयकर्मसहायस्यैव वेदनीयस्य बुभुक्षोत्पादने साम

ध्यात् । भोक्तुमिच्छा बुभुक्षा सा मोहनीयवर्गकार्यत्वत् कथं प्रक्षीण-
मोहे भगवति स्यात् ? अथ यथा रिरसाया अपि तत्र प्रसंगात् कम-
नायकामिषादिसेवाप्रसक्तेरीश्वरादेस्तस्याप्रिशेषाद्गीतरागता न स्यात् ।
त्रिपक्षमवनावशाद्गाडीनां हान्यतिशयदर्शनात् केवलिनि तत्पर-
मप्रकर्षप्रसिद्धेर्वीतरागतासभवे भोजनाभात्परमप्रकर्षोऽपि तत्र किं
न स्यात् तद्वाग्रनातो भोजनादावपि हायतिशयदर्शनाप्रिशेषात् ।
तथा हि—एकस्मिन् दिने योऽनेनवारान् भुङ्क्ते, कदाचित् विप-
क्षभावनान्शात् स एव पुनरेकवारं भुङ्क्ते । कदाचित् पुनरेकदिना
अंतरितभोजनं, अथ पुनः पक्षमासमवत्सराद्यंतरितभोजनं इति ।
किं च बुभुक्षापीडानिवृत्तिर्भोजनराम्यादनाद्भवेत् तदास्वादनं चास्य
रसनेन्द्रियात् केवलज्ञानाद्वा ? रसनेन्द्रियाच्चेत् मतिज्ञानप्रसंगात्
केवलज्ञानाभावात् स्यात् । केवलज्ञानाच्चेत् किं भोजनेन ? दूरस्थस्यापि
त्रैलोक्योदरवर्तिनो रसस्य परिस्फुटं तेनानुभवसंभवात् । कथं चास्य
केवलज्ञानसंभयो भुजानस्य श्रेणीतं पतितत्वेन प्रमत्तगुणस्थानवर्ति-
त्वान् । अप्रमत्तो हि साधुराहारकथामात्रेषां प्रमत्तो भवति । नार्ह-
न्भुजानोऽपीति महच्चिन्तम् । अस्तु तावज्ज्ञानसंभवं तथाप्यसौ केवल-
ज्ञानेन विशिष्टाद्यशुद्धद्रव्याणि परयन् कथं भुञ्जीत अंतरायप्रसंगान् ।
गृहस्थाश्चम्बरपसखास्तानि परयन्तोऽंतरायं बुर्वन्ति, किं पुनर्भगवा-
ननन्तर्वीर्यस्तत्र बुर्व्यात् । तदकरणे वा तस्य तेभ्योऽपि द्वीनस-
त्प्रसंगात् । क्षुधापीडासंभवे चास्य कथं मनस्तौग्यं स्यात् यतोऽनन्त-
चतुष्टयस्वामिताऽस्य । न हि सान्तरायस्यानन्तता युक्ता ज्ञानयत् ।
न च बुभुक्षा पीडय न भवतीत्यभिधातव्यम् । “क्षुधासमा नृरित्तं शरी-

स्वेदना" इत्यभिधानात् । तदलमतिप्रसङ्गेन प्रमेयकमलमार्तण्डे "या
यकुम्भदचद्रे प्रपचत प्ररूपणान् ॥ ६ ॥

अन्वयः—यस्य तुत्पिपासाजरातक्जमातकभयस्मया राग
द्वेषमोहा च न सति न आस प्रकीर्त्यते ।

निरुक्ति — लुंच पिपासा च जरा च आतङ्कश्च जम च अन्त-
कश्च भयश्च स्मयश्च इति लुत्पिपासाजरातङ्कजमातकभयस्मया
रागश्च द्वेषश्च मोरश्च इति रागद्वेषमोहा ॥ ६ ॥

अर्थ—जिसम क्षुधा, प्यास, गुणाषा, रोग, जन्म, मरण,
भय, मद तथा रागद्वेष मिष्यात्प्र चिता, अरति, निद्रा,
विस्मय, विपाद (मद) स्वेद, रोद ये अठारह दोष नहीं
होते वह आस कहा गया है । अर्थात् ये अठारह दोष
ससारी द सित प्राणियोंकेही होत है किन्तु सर्वज्ञ परमा
त्माके नहीं रहते ॥ ६ ॥

अथोक्तदोषैर्विरजितस्याप्तस्य वाचिका नाममालां
प्ररूपयन्नाह—

उस आसके विशेषण विशिष्ट नाम

परमेष्ठी परंज्योति विरागो विमल कृती ।

सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्त , सार्व शास्तोपलाल्यते

परमे इन्द्रादीना बन्धे पदे तिष्ठतीति 'परमेष्ठी' । परनिरावरण
परमातिशयप्राप्त ज्योतिश्चान यस्यासौ परज्योति । 'विरागो' विगतो

१—क्षय बुभुक्षायाम् इति घो विग्रह । क्षायन भोषतुमिच्छेति क्षुत् ।

रागो भावकर्म यस्य । 'विमलो' विनष्टो मलो द्रव्यरूपो मूलोत्तरकर्म
प्रवृत्तिप्रपंचो यस्य । 'कृती' नि शेषहेयोपादेयतत्त्वे दिवेनसम्पन्नः ।
'सर्वज्ञो' यथानभित्तिप्रतिबिम्बसाक्षात्कारी । 'अनादिमध्यात' उक्त
स्वरूपात्प्रसाहापक्षया आदिमध्यातश्च । 'साय' इहपरलोत्तरोप
कारकमार्गप्रदर्शकत्वेन सर्वम्यो हित । 'शास्ता' पूर्वापरनिरोधादि-
दोषपरिहारेणाखिलार्थानां यथावत्स्वरूपोपदेशकः । एतै गन्दैरुक्त
स्वरूप आह 'उपलाल्यते' प्रतिपाद्यो ॥ ७ ॥

अन्वयः—परमेष्ठी, पर ज्योति विराग विमल कृती सर्वज्ञ,
अनादिमध्यातः सर्वः शास्ता इति गणधरे उपलाल्यते ॥

निरुक्ति —परमे आर्हत्ये पदे निष्ठति इति परमेष्ठी । पर
ज्योति, यस्मिन् यस्य वा सः परज्योतिः (केनलजनी) विगतो रागो
यस्य सः विराग । विगतो मल प.प यस्य यस्माद्वा स विमलः । कृत कृत्य
येन स कृती । सर्वान् द्रव्यगुणपर्यायान् जानानि स सर्वज्ञः ।
अनादिरच मयरच अतरच इति अनादिमध्यात । सर्वम्य हित
इति सर्वः । शास्ति जनान् इत्येव शीलः असौ शास्ता ॥

१-परमे वाचि एा गतिनिवृत्तौ धो इन् "इपोऽद्ध" १। ४। ३। ५७
इति सप्तम्या अनुप् (अटुप्) "सुपमादिषु" ५। ४। ७७ इति
मूर्धा यपकारादेशः । २-"इत्यादे" ४। १। ३६ इति इन् । ३-आतः
को ह्यायाम् १। २। ३। अनेन सद्य इति कर्मकारकपूर्वकात् हा
अप्रबोधने इति धो क त्य । ४-"सर्वाण्णो" वा ३। ४। १४ इति
हितेऽर्थे णस्त्य । ५-शास् अनुशिष्टौ इति धो "शीलधर्मसाधी"
तुन् ३। २। १३। इति तुन् इय ।

अर्थ—परमपञ्चो अरहन्तपद उभय तिष्ठे विद्यमान रहै सो परमेष्ठी १ । उन्कृष्ट है केवल ज्ञानरूपज्योति जिसमें मो परमज्योति २ । नष्ट हो गया है र.गद्वपरूप विभाव जिस के सो विराग ३ । दूर हो गया है मोहनीयादि पाप कर्म जिसमें सो विमल । ४ करलीन हैं ममस्त करने योग्य काम जिसमें सो कर्ता ५ । समस्त गुणपयायोंको जाने मो मवेञ्ज ६ । जिसका आदि मध्य और अंत नहीं मो अनादि मध्यान्त ७ । जो सबको हितकारी हो मो मार्ग ८ । जो जीवमात्रको हितकारी शिक्षा देव मो शास्ता ९ । इत्यादि नाम उभय आश्रमों के हैं । ॥ ७ ॥

सम्यग्दर्शनविषयभूतासत्स्वरूपमभिप्रायेदर्शा तद्विषयभूता
गमस्वरूपमभिधातुमाह, -

ऐसे ही आश्रम कहा हुआ आश्रम सम्यग्दर्शनका
विषयभूत है ऐसा मताने हैं

अनात्मार्थं विना रागैः, शास्ता शास्ति सतो हितम्
ध्वनन् शिष्टिपकरस्पर्शा, मुरज किमपेक्षते ॥८॥

‘शास्ता’ आश्रम । ‘शास्ति’ शिक्षा । का ? ‘सत’ अनि-
पर्यस्तादित्वेन समीचीनात् भव्यात् । किं शास्ति ? ‘हित’ स्वर्गादि-
तत्त्वात् न च सम्यग्दर्शनादिकम् । विष्णु मन । क्वचित् फलमभिलष-
न्तसौ शास्त्रीत्याह—‘अनात्मार्थं’ त विद्यते आत्मनोऽयं प्रयोनन
यस्मिन् शासनकर्मणि परोपकारायभ्यासो तात् शास्ति । “परोप

‘वाराय सना हि चोष्टतम्’ इत्यभिधानान् । स तथा शास्तीयित्वन्
 कुतोवगतमित्याह ‘विना रागे’ यतो लाभपूजयास्यमित्यापलक्ष्य-
 परे रागे विना शास्ति ततोऽनात्मार्थं शास्तीलक्ष्मीयते । अर्येणार्यस्य
 समर्थनार्थमाह— ध्वनमित्यादि । शिन्पिपरस्पर्शाद्वादककरामिधाना-
 मुरजो मृदलो ध्वनन् विमात्मार्यं विविदपेक्षते नैवापेक्षते । अप-
 मर्थ—यथा मुरज परोपकाराथमेव विविद्वान् शब्दान करोति तथा
 मरुतं शास्त्रप्रणयनमिति ॥ ८ ॥

अन्वय—शास्त्रा अनात्मार्थं रागे विना सन हित शास्त्रे ।
 शिन्पिपरस्पर्शात् ध्वनन् मुरज किमपेक्षते नैवापेक्षते ॥ ८ ॥

निरुक्तिः—आत्मने इति आत्मार्थम् । आत्मार्थं इति अना-
 त्मार्थम् । शिन्पिनं करो शिन्पिकारं । शिन्पिकारम्या स्पर्शः इति
 शिन्पिपरस्पर्शं तस्मात् शिन्पिपरस्पर्शात् ॥

अर्थ—आप्त अपने विना प्रयोजन तथा रागके विना ही
 सत्पुरुषोंको (मव्यजीवोंको) हितकारी शिक्षा देता है ।
 क्या मृदग बजानेवालेके हाथकी ताड़नासे रजता हुआ
 मृदग कुछ चाहता है ? वा कुछ राग करता है ? कुछ भी
 नहीं ।

कीदृश तच्छास्त्र यत्तेन प्रणीतमित्याह,—

आगमरा लक्षण

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य, महष्टेष्टविरोधम् ।

१—‘विनातिघ्न’ १११८ इति पञ्चया स्थाने कृतोया ।

तत्त्वोपदेशकृत् सार्व, शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥०॥

‘आप्तोपज्ञ’ सर्वज्ञस्य प्रथमोक्ति । अनुद्धय्य यस्मात्तदाप्तोपज्ञ
 तस्मादिन्द्रादीनामनु-लक्ष्यमादेय । यस्मात् ‘तदुपज्ञ’ मेन तेषामनुलक्ष्य
 यत् । ‘अदृष्टेष्टविरोधक’ दृष्ट प्रत्यक्ष, इष्टमनुमानादि, न विद्यते
 दृष्टेष्टाभ्यां विरोधो यस्य । तथाविधमपि कुतस्तत्सिद्धमित्याह—‘तत्त्वोप-
 देशकृत्’ यतस्तत्त्वस्य सप्तविधस्य जीवादिवस्तुनो यथाप्रस्थितस्वरू-
 पस्य वा उपदेशकृत् यथाप्रतिदेशक ततो दृष्टेष्टाविरोधकम् । एव
 विधमपि कस्मादवगतं यत् ‘सार्व’ सार्वभ्यो हित सार्वमुच्यते तत्राय
 यथावत्तत्त्वरूपप्ररूपणमतरेण घटेत् । एतदप्यस्य कुतो निश्चित
 मित्याह—‘कापथघट्टन’ यत् कापथस्य कुतिसतमार्गस्य मिथ्यादर्शना
 देर्घट्टन निराकारक’ सर्वज्ञप्रणीत शास्त्र तत्रस्तत्सार्वमिति ॥ ९ ॥

अन्वय - अप्तोपज्ञम् अनु-लक्ष्यम्, अदृष्टेष्टविरोधकम् तत्त्वो-
 पदेशकृत् सार्व कापथघट्टन शास्त्र भवति ।

निरुक्ति - आप्तस्य उपज्ञमिति आप्तोपज्ञम् । न अन्ये
 उल्लङ्घयन्ति योग्य तत् अनु-लक्ष्यम् । न दृष्ट इष्टे विरोध-
 यस्य तत् अदृष्टेष्टविरोधकम् । तत्रानाम् उपदेश इति तत्त्वोपदेशः

१-विद्यन्धिति प्रतिबध्नतीति विरोधका । ‘णुत्’ २।१।२६ इति
 णु । इष्टस्य विरोधका इति इष्टविरोधका । न दृष्टा प्रत्यक्षोभूता
 इष्टविरोधका यस्य तत् तथा, अथवा न दृष्टानि इष्टविरोधकानि
 यावयानि सूत्राणि च यस्मिन् तत् । अथवा न इष्टस्य प्रिय
 इतिद्वय इष्टस्य यस्मात्तस्य च यस्मिन् तत् । १६

तत्त्वोपदेश कृतवत् इति तत्त्वोपदेशकृत् (क्विप् प्रत्ययः) सर्वेभ्यो हितम्
इति सार्वम् । कुत्सितः पया इति कापयः । कापयो घट्यतेऽनेन
इति कापयघट्टनम् ॥

अर्थ—जिसको प्रथम आप्तने कहा हो, जो दूसरोंसे
खंडित नहीं किया जा सके, नहीं है तत्त्वोंमें विरोध जिसके

इति पक्ष । अनुल्लङ्घ्यरदादिति हेतु । यद् यदनुल्लङ्घ्य
भवति तत्तदाप्तोपक्ष भवति यथा मोक्षशास्त्रम्, तथैव रत्नकर-
ण्डधाराकाचार, अनुल्लङ्घ्य । तस्मात् आप्तोपक्ष एव । यच्चानु-
ल्लङ्घ्य न भवति (उल्लङ्घ्य भवति) तदाप्तोपक्ष हि न भवति
यथोन्मत्तवचनम् । अत्र धाराकाचारे अनुल्लङ्घ्यस्य निषेधो न
वर्तते तस्मादाप्तोपक्षत्वस्यापि निषेधो न वर्तते । इदं रत्नक-
रण्डधाराकाचारशास्त्रं हि अनुल्लङ्घ्य भवति अदृष्टेष्टविरोध-
कत्वात् । यद् यददृष्टेष्टविरोधक भवति तत्तदनुल्लङ्घ्य भवति
यथा महापुराणम् । यच्चानुल्लङ्घ्यत्व न भवति तच्चवादृष्टेष्टवि-
रोधकत्वमपि न भवति । यथा रथ्यापुरूपचाम् । अयं धाराका-
चार अदृष्टेष्टविरोधकत्वात् तत्त्वोपदेशकृत्तान् इत्यादि । अयं
हि तत्त्वोपदेशकृत् सार्वत्वात् इत्यादि । अयं हि सार्व-कापय-
घट्टनत्वात् । इत्यादि अनुमानप्रयोगा शेषा पाठवैर्निर्वा-
जनीया ।

१—“का पथ्यक्षे” ४।३।२७१ इति कु शब्दस्य वा आदेशः
‘ऋक्पूरुष थोऽव्’ ४।२।६० इति सात् अत्यः । कापयपूर्वक-
चट्ट धो, “करणाधारे चानद्” २।३।११२ इति भनट रयः ।

तथा तत्त्वोंका उपदेश करनेवाला हो, सर्व मन्व्यजीवोंका हितकारी हो और खोटेमार्गको दूर करनेवाला हो वही शास्त्र है ।

अपेदानां श्रद्धानगोचरस्य तपोभृतः स्वरूप प्ररूपयनाह -

गुरुया लक्षण

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रह ।

ज्ञानध्यानतपोरत्न स्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥

विषयेषु सत्त्वनितादिभ्याशा आकाङ्क्षा तस्या वशमधीनता । तदतीतो विषयाकाङ्क्षारहित । 'निरारम्भः' परित्यक्तकृष्यादिव्यापार । 'अपरिग्रहो' बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहित । 'ज्ञानध्यानतपोरत्न' ज्ञानध्यानतपास्येव रत्नानि यस्य एतद्गुणनिशिष्ठो य स तपस्वी गुरु 'प्रशस्यते' श्लाघ्यते ॥ १० ॥

अत्रय - स तपस्वी प्रशस्यते, स कः य विषयाशावशातीत निरारम्भ अपरिग्रहः ज्ञानध्यानतपोरत्न ॥१०॥

निरुक्ति - विषयानाम् आशा विषयाशा । विषयाशाया वश विषयाशावश । तेन (विषयाशावशेन) अतीत इति विषयाशावशातीत । निर्गत आरम्भो यस्मान् स निरारम्भ । नास्ति परिग्रहो

१-तपासि त्रिद्वयते यस्य स तपस्वी । "मायामयामे शास्त्रक तपोऽसौ विन् ४।१।७४ इति विन् । मत्तय स्तो" १।२।१२३ इति म-सहात्वात् - "तपदा-प आत्मम्" १।२।१०३ इति पदसहाया बाधितत्वात् रि प्राण्यो न भवति ।

यस्य इति अग्रिमह । ज्ञान च ध्यान च तपश्च इति ज्ञानध्यान
तपामि । तानि रूतानि यस्य स “ज्ञानध्यानतपोरक्तः” रक्त इति
पाठे तु ज्ञानध्यानतपस्तु रक्त इति ज्ञानध्यानतपोरक्तः ॥

अर्थ-वे गुरु प्रशसनीय हैं, कौनसे ? जो विपर्योकी
आशाओंसे रहित है, आरंभरहित है और ज्ञान ध्यान तथा
तपमें लगतीन हैं । अथवा ज्ञानध्यान और तप हैं रत्न
जिनके । अर्थात् उनके पास ये रत्न विद्यमान हैं । किन्तु
अन्य परिग्रह नहीं है ॥१०॥

इदानींमुक्तलक्षणदेवागमगुरुविषयस्य सम्यग्दर्शनस्य
निःशकितत्त्वगुणस्वरूप श्रुपयन्नाह —

निरशङ्कित श्रुतका, लक्षण कहते हैं ।

इदमेवेदृशमेव, तत्र नान्यन्न चान्यथा ।

इत्यकम्पायसाम्भोवत्, सन्मार्गेऽसशया रुचि ।११।

‘रुचि’ सम्यग्दर्शन । ‘असशया’ निःशक्तिरथर्मोपेता ।
किं विशिष्टा सती ? ‘असम्पा’ निश्चला । कियत् ? ‘आयसाम्भोवत्’
अयसि भरमायस तच्च तदम्भध पानीय तदिव तद्वत् खड्गादिग्ल
पानीयवदित्यर्थ । क साऽरूपेत्याह—‘सन्मार्गे’ ससारसमुद्रोत्तरणार्थं
सन्निर्भूयने अन्वेप्यत इति स मार्ग आप्तागमगुरुप्रवाहस्तस्मिन् ।
वे गोल्लेखिनेत्याह ‘इदमेवेत्यादि’ इदमेवाप्तागमतपरिवचक्षण तद्रूप ।
‘इदृशमेव’ उक्तप्रकारणैव लक्षणेन लक्षित । ‘नान्यत्’

म । 'न चान्यथा' उक्ततल्लक्षणादयथा परपरिकल्पितलक्षणेन
 क्षणितम्, 'न च' नैव तद्घटते इत्येवमुक्तेखेन ॥ ११ ॥

अन्वय - तत्त्वम् इदम् एव, अयत्न । तत्त्वम् इदंशम् एव, अन्य-
 धा न च इति स मार्गे आयसाम्भोवत् अम्पा सा असशया रुचि-
 नवशि ॥

निष्क्ति - तस्य भाव तत्त्वम्, अयेन प्रकारेण इति अन्यथा
 नास्ति कम्पो यस्यां सा अम्पा, अयस विकार इति आयसैः । आय-
 सस्य अम्मः इति आयसाम्म । आयसाम्म इय इति आयसाम्भो-
 वत् । सरचसौ मार्गः स मार्गः, तस्मिन् स मार्गे । नास्ति सशयो
 यस्यां सा असशया ॥ ११ ॥

अर्थ-तत्त्व (हितरूप) ये आप्त, आगम, तपस्वी
 ही हैं और नहीं हैं । ये आप्त आगम और तपस्वी उमही

१-तेषाम् आसागमतपोभृता भावः स्वरूप इति तद्यम् ।
 "भावे स्थितम्" ३।३।१३६ इति त्व त्व । २-प्रकारे धा ४।१।१३१
 इति धा त्व । ३- हेमादिभ्योऽञ्" ३।३।१२७ इति विकारे अञ्त्यः ।
 ४-आयसाम्मस इवेति आयसाम्भोवत् "तस्य" ३।४।१३५ इति
 बत् । अथवा "सुप इवे" ३।३।१३३ इति जन् । अत्र रत्नकरण्ड-
 श्रावकाचारे उपासकाऽध्ययने शास्त्रे तद्यपदेन आसागमत-
 पस्विनामेव ग्रहणम् । इति सर्वाद्यन्तगत इदम् पदेन अगुल्या
 निर्देशेन ज्ञायते । नात्र जीवादीनां तत्त्वानां ग्रहणम् । तेषां च
 स्वरूपोपलक्षणं च तदेव यच्च उपरितनकारिकासु स्थामिभि-
 र्क्तं स्थयम् ।

स्वरूपवाले (लक्षणवाले) हैं अन्य प्रकारके नहीं हैं ।
इस प्रकार सन्मार्गमें तलवारके पानीके समान निष्कम्प
(निश्चल) होना सो असंशया रुचि है ॥ ११ ॥

इदानीं निष्काङ्क्षितस्वगुण सम्पद्दर्शने दर्शयन्नाह —

अनाकाङ्क्षणं श्रद्धा लक्षणं

कर्मपरवशे सान्ते, दुःखैरन्तरितोदये ।

पापबीजे सुखेऽनास्था, श्रद्धाऽनाकाङ्क्षणा स्मृता

‘अनाकाङ्क्षणा स्मृता’ निष्काङ्क्षितस्व निश्चितम् । कासौ
‘श्रद्धा’ । कथमृता ? ‘अनास्था’ न विद्यते आस्था शारवतनुद्धिर्य-
स्याम् । न आस्था अनास्था । तस्यां तथा वा श्रद्धा अनास्था श्रद्धा सा
चाप्यनाकाङ्क्षणेति स्मृता । क्व अनास्थाऽरुचि ? ‘सुखे’ वैप-
यिके । कथमृते ? ‘कर्मपरवशे’ कर्मावशे । तथा ‘सान्ते’ अन्तेन
विनाशेन सह वर्तमाने । तथा ‘दुःखैरन्तरितोदये’ दुःखैर्मानसशारीरै-
रन्तरित उदयः प्रादुर्भावो यस्य तथा ‘पापबीजे’ पापोत्पत्तिकारणे ॥ १२ ॥

अन्वय — सुखे अनास्था इति श्रद्धा अनाकाङ्क्षणा स्मृता ।

कथमृते सुखे ? कर्मपरवशे, पुन ? सान्ते । पुनरपि दुःखैरन्त-
रितोदये । पुनरपि पापबीजे ।

निरुक्ति — न आस्था अनास्था । कर्मणां परवश इति कर्मपर-

१—नास्ति काङ्क्षणा बाह्या यस्या रुच्यां सा अनाकाङ्क्षणा
रुचिः । सासारिकसुखेषु बाह्या न करोतीत्यर्थः ।

२—आहपूर्वकं सा गतिनिवृत्ती धी ‘गावात्’ २।१।२०६
इत्यनेन अङ् । आस्थोपते निश्चीयते सा आस्था श्रद्धा ।

वदाः तस्मिन् कर्मपरवशे । अन्तेन सहित सा त तस्मिन् साते । अत
रित उदयो यस्य तत् अतरितोदयम् । तस्मिन् अतरितोदये ।
पापस्य बीज पापबीज तस्मिन् पापबीजे ॥

अर्थ-सासारिक सुखोंमें “स्थिरता नहीं है” ऐसी
श्रद्धा करना सो अनाशाक्षणा रुचि है, सो सासारिक सुख
कैसा है? कर्मोंक अधीन है तथा नाशवन्त है और दुखरूप
फलका है उदय (दुखोंकरि मिला हुआ है फल) जिममें
पापका बीज है (पापबन्धका कारण है) ॥ १२ ॥

सम्प्रति निर्विचिकित्सा गुण सम्यग्दर्शनस्य प्ररूपयन्नाह-

निर्विचिकित्सा अगमा लक्षण ।

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते ।

निर्जुगुप्सा गुणप्रीति र्मता, निर्विचिकित्सिता ॥ १३

‘निर्विचिकित्सिता मता’ अन्वुपगता । कासां ? ‘निर्जुगुप्सा’
विचिकित्साभावात् । क ? काये । निर्विशिष्टे ? ‘स्वभावतोऽशुचौ’
स्वल्पेणापवित्रिते । इत्थं भूनेऽपि काये ‘रत्नत्रयपवित्रिते’ रत्नत्रयेण
पवित्रिते पूज्यता नीते । कुतस्तथाभूने निर्जुगुप्सा भवतीत्याह-‘गुण
प्रीति’ यतो गुणेन रत्नत्रयभाभूतमुक्तिसात्प्रत्यलक्षणेन प्रीतमनु
ष्यशरीरमेवेद मोक्षसाधक नान्यथादिशरीरमित्यनुराग । ततस्तत्र
निर्जुगुप्सेति ॥ १३ ॥

अन्वय - मतिनां काये निर्जुगुप्सा गुणप्रीति निर्विचिकि-

स्तिना मना । कथं भूते काले स्वभावेन अशुचौ पुन रत्नत्रयप
विप्रित्ते ॥ १३ ॥

निरुक्ति - निगता जुगुप्सा यस्या सा निर्जुगुप्सा । गुणेषु प्रीतिः
गुणप्रीति । निर्गता विचित्रिस्तिना यस्या सा निचित्रिस्तिना ।
त्रयो अत्रयना यस्य तन् त्रयम् । रत्नाना त्रयम् रत्नत्रयम् । रत्नत्रयेण
पवित्रिते इति रत्नत्रयपवित्रित तस्मिन् रत्नत्रयपवित्रिते ॥ १३ ॥

अर्थ-व्रतियोंके शरीरम ग्लानि नहीं करना किन्तु
उनके चारित्र्यादिगुणोंम प्रीति करना सो निर्निचिकि-
त्सिता रुचि जानना । कैसा है उनका शरीर ? स्वभावसे तो
मलिन है किन्तु रत्नत्रये पवित्र है ॥ १३ ॥

१-स्वभावेनेति स्वभावेन । 'आद्यादिभ्यस्तसि' ४।२।६०
'नसे' ४।१।१४ इत्याभ्या नम् । २-गुप् धो 'किद्वगुप्तिज सन्
मिपज्यादिनि'दाक्षमे" २।१।३ इति निन्दाया सन् । द्वित्यादि
काय पुन "त्यान्" २।३।६६ अनन अत्य स्तोत्रिङ्गे टाप् च ।
'जुगुप्सा नि'दा गगनिरिति यावत्' । निगता नष्टा जुगुप्सा
प्रस्यया यस्या या निजुगुप्सा ।

३-कित रोगापनयने धा मिपन्थाया सन् ततो भूते काले "त"
२।२।१०० इति क्तत्वं, इट् च । विगत चित्रिस्तिनामिति विचि-
त्रिस्तिना । निर्गत चित्रिस्तिना यस्या रचे मा निर्निचित्रिस्तिना ।
चित्रिस्तिनाया निषेधस्य निषेधो यत्न पतादृशा रुचिरित्यर्थः ।

४-पूयते िर्दोषा जायन्ते प्राणिन आन इति पत्रिन् "इत्र
स्वो द्वैवते" २।२।१७२ इति इत्र त्य पत्रिन् बहन् स जात
अनसि आत्मनि वा अस्य स पवित्रिन ।

अधुना सदृशनस्यामूढदृष्टित्वगुण प्रकाशयन्नाह—

अमूढदृष्टि अगका लक्षण

कापथे पथि दु खाना, कापथस्थेऽप्यसम्मति ।

असृष्टि रनुत्कीर्ति रमूढा दृष्टि रुच्यते ॥ १४ ॥

अमूढा दृष्टिरमूढत्वगुणविशिष्ट सम्यग्दर्शन । का ' 'अस-
म्मति,' न विद्यते मनसा सम्मति श्रेयः साधनतया सम्मनन यत्र
दृष्टौ । क ' 'कापथे' कुसितमार्गे मिथ्यादर्शनादा । कथमूढे ' 'पथि'
मार्गे । केपा ' 'दुःखाना' न केवलं तत्रैत्रासम्मतनिरपि तु 'कापथ येऽपि'
मिथ्यादर्शनाद्याधारेऽपि जीवे । तथा 'असृष्टि' न विद्यते असृष्टि
कायेन नख द्योतिकादिना अद्गुलिचालनेन शिरोधूननेन वा प्रशसा
यत्र । 'अनुत्कीर्ति' न विद्यते उत्कीर्तिरुत्कीर्तन वाचा सस्तवन
यत्र । मनोवाक्यवैर्मिथ्यादर्शनादीना तद्वता चाप्रशसाकरणममूढ
सम्यग्दर्शनमित्यर्थ ॥ १४ ॥

अन्वय—कापथे अपि कापथस्थे असम्मति अमसृष्टि अनु

१-न पूर्वक मनु अवरो यने स पूज्य पृथोत् सपचाने उत्पू-
र्वक एत आख्याने षम्य "सिन्नयांति" २३३८० अनेन क्ति । ह-म-
न्यम् रम् नम् गम् वनतितनादेऽप्य भलि' । ३३३३६ इति इम्य
मकारस्य एम् । "वो कु" ७३३६५ इति चकारस्य ककारदेश ।
भूति जूति स्तानि हेति कीति ।" २३३६२ इति ह्रादेश तस्य
एम् । सम्मति असृष्टि उत्कीर्ति इति पदानि भिद्धानि ।

स चामी जनश्च स आश्रयो यस्या* । अयमर्थे --रिताहितविवेकवियल
व्रताद्यनुष्ठानेऽसमर्थजनमाश्रित्यागतस्य रत्नत्रये तद्वति वा दोषस्य यत्
अच्छादनं तदुपगूहनमिति ॥ १५ ॥

अवयव --यत् मार्गस्य वायता प्रमार्जति तत् उपगूह्येन वदति
कथम् तस्य मार्गस्य ? स्वयं शुद्धस्य । कथंभूतां वापताम् ? बाला-
शक्तजनाश्रयाम् ॥

निरुक्ति*--स्वयं च यं शुद्धं स्वयं शुद्धं तस्य स्वयंशुद्धस्य ।
बालाश्च अशक्ताश्च ये जना ते बालाशक्तजना तेषु पापशक्तजनेषु
आश्रयो यस्या सा बालाशक्तजनाश्रया, तां बालाशक्तजनाश्रयाम् ॥

अर्थ--जिम हेतुसे मोक्षमार्गम आइ हुई किंउदन्ती दूर
की जाती है उस हेतुको उपगूहन अग कहते हैं । किमा है
वह मोक्षमार्ग ? जो स्वयं ही शुद्ध है । आर कौसी है वह किंउ-
दती ? जो कि अज्ञानी और असमर्थ जनोंके आश्रयसे
हुई है ।

अथ स्थितिकरणगुण मय्यदर्शनस्य दर्शयन्नाह—

स्थितिकरणं प्रगका लक्षणम् ।

दर्शनाच्चरणाद्वापि, नलता धर्मप्रत्मलै ।

प्रत्यक्षस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरणमुच्यते ॥१६॥

१-उपेयं गृह्यते समिप्यते प्रमाज्यते अनेन हेतुनेति उपगूहनम्
गृह्यते सवर्णे धे 'करणाधारे चानट्' २।१।१२ इति धन
'गोहरूपं ४।३।८७ इति उपारस्य उच्चार ।

‘स्थितीकरणम्’ अस्थितस्य दशनादेश्चलितस्य स्थित क्रियते स्थितीकरणमुच्यते । कै २ प्राज्ञैस्तद्विचक्षणैः । किं ‘तत्’ २ प्रत्यवस्थापन’ दर्शनादी पूर्णम् पुनरप्यवस्थापन । वेपा २ ‘चलनाम्’ कस्मात् दर्शनाच्चरणाद्रापि । कैस्तेषां प्रत्यवस्थापनम् २ ‘धर्मसत्ता,’ धर्मवासल्ययुक्तैः ॥ १६ ॥

अत्रय -तत प्राज्ञैः स्थितीकरणम् उच्यते । तत् किन् २ क् दर्शनात् वा अपि चरणान् चलता जीवना धर्मवसम् प्रत्यवस्थापनम् ।

निरुक्ति -धम धर्मस्य वा वत्सला धर्मसत्ता तै । प्रज्ञा विद्यते येषु प्राज्ञा तै प्राज्ञैः । अस्थित स्थित क्रियते इति स्थितीकरणम् ।

अर्थ-वह श्रुतज्ञानियोंने स्थितीकरण कहा है, जो कि सम्यग्दर्शनसे वा सम्यक्चारित्रसे डिगते दुःखोंका धर्म-प्रेमियोंद्वारा फिरसे धर्मम स्थापन करना है ॥ १६ ॥

अथ वात्सल्यगुणस्वरूप दर्शने प्रकृत्यनाम्—

वात्सल्य प्रगमा लक्षण ।

स्वयूथ्यान्प्रति सद्भाव, सनाथापेतकेनवा ।

प्रतिपत्तिर्यथायोग्य, वात्सल्यमभिलष्यते ॥ १७ ॥

१-प्रति अत्र पूर्वकात् णिपन्तान् प्रा घा “हृत्कारोऽन्वय्य
 चिक्षमाध्याता पुगुणापेव” १.१.१३ इति पुञ्ज-न टन न न न्य ।
 २-वत्स इनेहाऽस्ति येषु तै धर्मम् । “आश्रद्धाचारुत्तेर्ण”
 ४।१। ३ इति णस्य । ४-“हृम्यस्तिप्रदोऽन्वय्ये सपत्तरि चिब”
 ४।२।६७ इति चिब । “अस्य मन्त्रो” ४।२।६ इति
 ईकार ।

‘वात्सल्य’ सर्वमिच्छि स्नेह । ‘अभिलष्यते’ प्रतिपाद्यते ।
 कामो ? ‘प्रतिपत्ति’ पूजाप्रशसादिभ्याम् । कथम् ? ‘यथायोग्यम्’
 योग्यानतिक्रमेण अत्रलिकरणाभिमुखगमनप्रशसाबचनोपकरणसम्प्र
 दानादिशङ्कणा । कान् प्रति ? ‘स्वयूथ्यान्’ जैनान् प्रति । कथभूता
 ‘सद्भावसनाथा’ सद्भावेनावकृतया सहिता चित्तपूर्विकेत्यथ । अत
 एव ‘अपेतकैतवा’ अपेत यिनष्ट कैतव माया यस्या ॥ १७ ॥

अन्वय - स्वयूथ्यान् प्रति यथायोग्य प्रतिपत्ति वात्सल्यम्
 अभिलष्यते । कथभूता प्रतिपत्ति सद्भावसनाथा । पुन अपेतकैतवा

निरुक्ति - स्वस्य यूथे भग्न स्वयूथ्या तान् स्वयूथ्यान् ।
 सद्भाव सनाथा सद्भावसनाथा । अपेत कैतवो यस्या वा यस्या सा
 अपेतकैतवा । ये ये योग्या इति यथायोग्यम् । वात्सल्यस्य भावः कर्म
 वा वात्सल्यम् । अमित लभ्यते इति अभिलष्यते ॥ १७ ॥

अर्थ-अपने यूथरालोका (धार्मिक भाइयोका) यथा

१-स्वयूथ्यान् प्रति अत्र भागे चानुप्रतिपरिणा" १।३।१४
 इत्यनेन सम्बन्धे द्वितीया । मधमाणा भद्राणा भग्याना सत्कार-
 पुरस्कार इति भावः । २-अप गि पूर्वक इण घो स त्य ।
 यसे 'त्' १।३।२५ इति पूर्व प्रयोग । ३-योगाय प्रमवो
 योग्या योग्यनामुक्ते" ३।३।१८ इति य त्य । 'पुन यावदुष
 यैयानिचे १।३।६ इति हस । ४-व्रतम स्मेहो विदुयने घेषाते
 घत्सला तेया भाव कर्म वा वात्सल्यम् । कगकारके वा
 विमत्ती । ५-अभि पुत्रक लपथ्यकाया वाचि घो कर्माणि लट
 'गे यक्' २।१।८० इति यक् । "डी" १।२।७ इति लट स्थाने दः ।

निरुक्ति -अज्ञानम् एव निमिरम् अज्ञाननिमिरम् । अज्ञानति
मिरस्य व्याप्ति इति अज्ञानतिमिरव्यप्ति ,ताम् । यथा अनतिक्रम्य वर्तते
इति यथायथम् । जिनस्य शासनं जिनशासनम् । जिनशासनस्य
माहात्म्यं जिनशासनमाहात्म्यम् । जिनशासनमाहात्म्यस्य प्रकाश इति
जिनशासनमाहात्म्यप्रकाश ॥१८॥

अर्थ—अज्ञान अन्धकारको दूर कर यवार्थ पूर्वापर
विरोध रहित ऐसे निनशामनके महत्प्रकाश प्रगट करना सो
प्रभावना अग है ॥

इदानीमुक्तानि शतकित्वाद्यष्टगुणानामध्ये क केन गुणेन
प्रधानतया प्रकटित इति प्रश्नार्थेन श्लोकद्वयमाह—

इन अगात्रे पालन करनेवाले ऐतिहासिक प्रसिद्ध
पुरवाची आदर्शनीय नामानि कहते हैं ।

तावदञ्जनचौरोऽङ्गे, ततोऽनन्तमति स्मृता ।
उद्वायनस्तृतीयेऽपि, तुरीये रेवती मता ॥१९॥
ततो जिनेन्द्रभक्तोऽन्यो, वारिषेणस्तत परः ।
विष्णुश्च वज्रनामा च, शेषयोर्लक्ष्यता गतौ ॥२०॥

तावच्छब्द क्रमवाची, सम्यग्दर्शनस्य हि नि शब्दित्वादी-य-
ष्टाङ्गायुक्तानि तेषु मध्ये प्रथमे नि शब्दित्वेऽङ्गरूपे तावद्व्ययता
दृष्टान्तां गतोऽञ्जनचार स्मृतो निश्चिन । द्वितीयेऽङ्गेऽ निष्वां
चित्ते ततोऽञ्जनचारायाऽनन्तमतिर्लक्ष्यता गता मता । तृतीयेऽङ्गे

निर्विचिकित्सत्वे उदायनो लक्ष्यता गतो मतः । तुरीये चतुर्थेऽङ्के
अमृतदृष्टित्वे रेवती लक्ष्यता गता मता ! ततस्तेम्यश्चतुर्थेऽन्योऽन्यो
जिनेन्द्रमक्त, श्रेष्ठी उपगूहने लक्ष्यता गतो मत । ततो जिनेन्द्रमक्तात्
परो वारिपेण स्थितीकरणे लक्ष्यता गतो मतः । विष्णुश्च विष्णु-
कुमारो वज्रनामा च वज्रजुमारः शेषयोर्नात्सङ्गप्रभावनयोर्लक्ष्यता
गती मता । गता इति बहुवचननिर्देशो दृष्ट्या तमूतोक्तात्मव्यक्तिबहु-
त्वापेक्षया ॥१९॥२०॥

अन्वय - ताम् अगे अजनेचौर । तत अनन्तमति स्मृता ।
तृतीये अगे उदायन, अपि तुरीये अगे रेवती मता । तत, पञ्चमे
अगे जिनेन्द्रमक्त तत पर अयो वारिपेणः । शेषयो सप्तमाष्ट-
मांगयोः विष्णु च वज्रनामा, लक्ष्यता गती ॥

निरक्ति - अञ्जनरचासी चौररच अञ्जनचौरः ॥१९॥२०॥

अर्थ—उपर कहे अनुसार सम्यक्त्वके आठ अंगोंमें

१-चुराशीलमस्येति चौर । "छत्तादेरत्र" ३।३।२१७ इत्यत्र ।

२-तयाणा पुरण तृतीयम् "त्रेस्तृ च" ४।१।८ इति त्रि शब्दस्य

तु आदेशः तीय त्यश्च । ३-चतुष्पणा पुरण तुरीयम् "छयी च छं

च" ४।१।७ इति छ त्य चकारस्य च छम् । ४-चारी गजवधन-

मुनि सेना यरय स वारिपेण "पत्यग" ५।३।८७ इति मूधान्य

पकादेश 'प्राक्पदस्यात्सौ' ५।३।१००। इति णकारादेशश्च ।

५-लक्ष्यगितु तिद्वेन्दुमुदाहृतं योग्या जहां समर्था इति

लक्ष्या आदर्शनीया "तृजयाश्चाह" ३।३।१६०। इति य त्य तेषां

भावो लक्ष्यता ताम् तथा ।

जो प्रसिद्ध हुवे हैं वे क्रमसे इस प्रकार हैं । प्रथम अगमें अजनचोर । दूसरे अगमें अनतमति । तीसरेमें उदायन राजा तथा चतुर्थमें रेवती राणी प्रसिद्ध हुई है । पाचवे अगमें जिनेन्द्रभक्त उमके आगेके अगम वारियेण राजा चाकी सातवे आर आठवे अगमे विष्णुकुमार आर वज्र कुमार ॥१९॥२०॥

तत्र नि शङ्कितत्वेऽञ्जनचोरो दृष्टान्तता गतोऽस्य कथेयम्

यथा धवतरिविचल्लोमी सुवृत्तकमवशादमितप्रमविद्युत्प्रभदेर्या सजाती चा यो यस्य धर्मपरीक्षणार्थमत्रायान्ता । ततो यमदग्निस्ताभ्या तपमश्वालित* । मगदेशे राजगृहनगरे जिनदत्तश्रेष्ठो वृत्तोपनास कृष्णचतुर्दश्या रात्रौ स्मशाने कायोःसर्गेण स्थितो दृष्ट । ततोऽमित-
 प्रभदेवेनोक्त दूरे तिष्ठतु मदीया मुनयो ऽमु गृहम् ध्यानाद्यालयेति, ततो विद्युत्प्रभदेवेनानेकधा वृत्तोपसगापि न चलितो ध्यानात् । तत प्रभाते मायामुपसहस्र प्रशस्य चानाशगामिनी विद्या दत्ता । तस्मै कथित च तवेय सिद्धाऽ यस्य च पचनमस्कारार्चनाराधनविधिना सेत्स्यतीति । सोमदत्तपुष्पभट्टकेन चैवदा जिनदत्तश्रेष्ठी पृष्ट क्व भवान् प्रातरेचोत्थाय व्रजतीति । तेनोक्तमदृत्रिमर्चत्वात्पत्रदनाभक्तिं कर्तुं व्रजामि । ममेत्य विद्यालाभ सजात इति कथिते तेनोक्तम् । मम दिवां देहि येन त्वया सह पुष्पादिक गृहीत्या बन्दनाभक्तिं करोमीति । तत श्रेष्ठिना तस्योपदेशो दत्त । तेन च कृष्णचतुर्दश्या स्मशाने वटवृक्षपूवशाखायामष्टोत्तरशतपाद दर्भशिक्य बन्धयित्वा तस्य तले तीक्ष्णसर्वशस्त्रायूर्ध्वमुखानि धृत्वा गन्धपुष्पादिक दत्त्वा शिक्यमध्ये

प्रविश्य पशोपवासेन पचनमस्कारानुच्चार्य क्षुरिकयैऋतु पाद छिद-
ताऽनो जाज्वल्यमानप्रहरणसमूहमालोक्य भतिन तेन सार्चितित, यदि
श्रेष्ठिनो पचनमसत्य भवति तदा मरणं भवतीति शङ्कितमना वार वार
चटनोत्तरण करोति । एतस्मिन् प्रस्तावे प्रनापाक्षराज्ञ वनकराडी-
हार दृष्ट्वाऽञ्जनसुन्दर्या विलासि-या रात्रायागतोञ्जनचौरो भणित
याद मे कनकरास्या हार ददासि तदा भर्ता एव नायथेति । ततो गत्वा
रात्रौ हार चोरयित्वाऽञ्जनचोर श्यागङ्गन् हारोद्योतेन ज्ञातोऽग्राक्ष.
कोऽपलैश्च धियमाणो हार त्यक्त्वा प्रणश्य गत, घटतल बटुकं
दृष्ट्वा तस्मान्मत्र गृहीत्वा नि शङ्कितेन तेन विधिनैकपारेण सर्व
शिक्य टिन्न शस्त्रोपरि पतित सिद्धया विधया भणित ममादेश देहीति ।
तेनोक्त जिनदत्तश्रेष्ठिपार्श्वे ग नयेति । तत सुदर्शनमेरुचैत्याजये
निनदत्तस्याग्रे नीत्या स्थित (धृत*) । पूर्ववृत्तात् कथयित्वा तेन
भणित यथेय सिद्धा भगदुपदेशेन तथा परनोरुमिद्वावप्युपदेहीति ।
ततश्चागणमुनिसतिगौ तपो गृहीत्वा कैलाशे केवलमुत्पाद्य मोक्ष
गत ॥ १ ॥

नि काशितत्वेऽनन्तमती दृष्टातोऽस्या कथा ।

भग्नदेशे चपानगर्या राजा वसुधर्धनो राघो लक्ष्मीमती । श्रेष्ठी
प्रियदत्तस्तद्धार्या अगवती पुत्र्यनतमती । नदीधराष्टम्या श्रेष्ठिना
धर्मकीत्याचार्यपादमूलेऽऽदिनानि ब्रह्मचर्यं गृहीतम् । क्रीडयाऽनन्तमती
च ग्राहिता । अन्यदा सप्रदानमालेऽनन्तमत्योक्त तात । मम त्यया ब्रह्म
चर्यं दापितमत किं विनाहेन श्रेष्ठिनोक्त क्रीडया मया ते ब्रह्म-
चर्यं दापितम् । ननु तात । धर्मे व्रते का क्रीडा । ननु पति । नदीधरा-

एदिनान्येव व्रतम् तव न सर्वदा दत्तम् । सोराच ननु तथा भट्टारकेर-
 विवक्षितत्वादिति । इह जमनि परिणयने मम निवृत्तिरस्तीत्युक्त्वा
 सकलकलारिज्ञानशिक्षा कुर्वन्ती स्थिता यौवनभरे चैत्रे निजोधाने
 आदोलयन्ती विजयार्धदक्षिणश्रेणिभिन्नपुरविद्याधरराजेन कुड्डमडि-
 तनाम्ना सुकेशीनिजभार्यया सह गगनतले गच्छता दृष्टा । विमनया
 विना जीवितेनेति सचित्य भार्या गृहे भृत्वा शीघ्रमागत्य विलपन्ती
 तेन सा नीता । आकारो गच्छता भार्या दृष्ट्वा भीतेन पण्डितधुविद्या
 सार्वभ्य महादृष्ट्या मुक्ता । तत्र च ता रुदन्तीमालोक्य भीमनाम्ना
 भिल्लराजेन निजपत्निकाया नीत्वा प्रधानराज्ञीपद तत्र ददामि मामि-
 च्छेति भणित्वा रात्रावनिच्छर्त्ता भोक्तुमारब्धा । व्रतमाहात्म्येन वन-
 देवतया तस्य ताडनाद्युपसर्ग क्रतु । देवता काचिदियमिति मीनेन
 तेनावासितसार्थपुष्पकनाम्न सार्थग्राहस्य समर्पिता । सार्थवाहो लोम
 दर्शयित्वा परिणेतुक्वामो न तथा वाञ्छित । तेन चानीयायोष्याया
 कामसेनाकुटिया समर्पिता, कत्यमपि वेरया न जाना । ततस्तया
 सिंहराजस्य राज्ञो दर्शिता तेन च रात्रौ दृष्टात् सेवितुमारब्धा ।
 नगरदेवतया तद्भ्रतमाहात्म्येन तस्योपसर्ग क्रतु । तेन च भातेन
 गृहान्नि सारिता । रुदती सखेद सा कमलश्रीश्रातिप्रया श्राविकेति
 मत्वा इतिगौरवेण धृता । अथानतमनीशोरनिस्मरणार्थं प्रियदत्तश्रेष्ठी
 बहुसहायो बन्दनाभक्तिं कुर्वन्त्यो याया गतो निजस्यालम्बितदत्तश्रे-
 ष्ठिनो गृहे मध्यासमये प्रविष्टो रात्रौ पुत्रीदृष्टवतीं रथितवारु ।
 प्रमाते तस्मिन् बन्दनाभक्तिं क्रतुं गते अतिगौरवित्प्रापूणकनिमित्त
 रसवतीं कर्तुं गृहे चतुष्क दातु कुशला कमलश्रीश्रान्तिकाया श्राविका

जिनदत्तभार्यया आकारिता । सा च सर्वं कृत्वा वसतिः का गता ।
 वदनाभक्तिं कृत्वा आगतेन प्रियदत्तश्रेष्ठिना चतुष्कमालोक्या-
 नतमर्तिं स्मृत्या गह्वरितहृदयेन गद्गदितवचनेनाश्रुपातं कुर्वता
 भस्मिन् । यया गृह्णमण्डनं कृतं ता मे दर्शयेति । ततः सा
 आनीना तयोश्च मेलापके जाते जिनदत्तश्रेष्ठिना च महोत्सव
 कृतः । अन्तमस्या चोक्तं - तात ! इदानीं मे तपो दापय दृष्ट
 मेऽस्मिन्नेव भवे सप्तारत्रैचित्र्यमिति । ततः कथलश्रीक्षातिबापास्यै
 तपो गृहीत्वा बहुना कालेन विधिना मृत्वा तदात्मा सहस्रारकल्पे
 देवो जातः ॥ २ ॥

निर्विचिकित्मते उदायनो दृष्टान्तोऽस्य कथा ।

एकदा साधमं द्वेष्य निजसभायां सम्यक्त्वगुणं व्यावर्णयता भारते
 वत्सदेशे रारकपुरे उदायनमहाराजस्य निर्विचिकितिं ॥ प्रशंसि
 तस्तं परीक्षितुं वामवदेन उदुम्बरकुष्ठजुषितं मुनिरूपं त्रिकृत्य तस्यैव
 हर्म्ये विधिना स्थित्या सर्वमाहारं जलं च मायया भक्षयित्वाऽतिदुर्गन्धं
 बहुबभनं कृतवान् । दुर्गन्धमभाज्ये परिजने प्रतीच्छ्रुतो राजस्तदेव्यारच
 प्रमानया उपरि छर्दितम्, हा हा ! निरुद्ध आहारो दत्तो मयेत्यात्मानं
 निदपस्तं च प्रक्षालयनो मायां परिहृत्य प्रकटीकृत्य पूर्ववृत्तान्तं कथ
 यित्वा प्रशंस्य च तं, स्वर्गं गतः । उदायनमहाराजो वर्धमानस्वामि
 पादमूले तपो गृहीत्वा मुक्तिं गतः । प्रमानती च तपसा ब्रह्मस्वर्गो
 देवो बभूव ॥ ३ ॥

अमूढदृष्टित्वे रेवती दृष्टान्तोऽस्य कथा ।

त्रिनयार्धदक्षिणश्रेण्यां मेघकूटे नगरे राजा च द्रुप्रमं च द्रुशेखरं

पुत्राय राज्यदत्त्वा परोपकारार्थं वन्दनाभक्त्यर्थं च कियतीर्षिणा दधानो
दक्षिणमथुरायां गत्वा गुप्ताचार्यमभीषे लुप्तको जातः । तेनैकदा
वन्दनाभक्त्यर्थमुत्तरमथुरायां चलितेन गुप्ताचार्यं पृष्ट । किं वस्य
वध्यते ? भगवतोक्तं मुन्नमुनेर्न दत्त्वा वरुणराजमहाराज्ञीरेक्या आ
शीर्वादरच कथनीय । त्रि पृष्टेनापि तेन एता रदेभोक्त । ततः लुप्तके-
नोक्त । भव्यसेनाचार्यस्यैकादशागशरिणोऽपेयां नामापि भगवत् न
गृह्णाति तत्र किञ्चित्कारणं भविष्यतीति सम्प्रधार्य तत्र गत्वा मुन्न
मुनेर्भट्टारकीया वन्दना वध्यित्वा तदीयं च त्रिंशष्ट वात्सल्यं दृष्ट्वा
भयसेनप्रसतिनां गतः । तत्र गतस्य च भयसेनेन समापणमपि न
कृतम् । कुण्डिकां गृहीत्वा, भयसेनेन सह यद्भिर्ममि गत्वा विबुर्गणया
हरिकोमलवृणाकुरच्छन्नो मार्गोऽग्रे दारित तं दृष्ट्वा "आगमे त्रिलेते
जीवा वध्यन्ते" इति भणित्वा तत्राहचि कृत्वा वृणोपरि गतः शीघ्रं
समये कुण्डिकाया जलं नास्ति तथा त्रिंशष्टिरच क्वापि न दृश्यतेऽनोऽ
त्र स्वच्छसरोवरे प्रशस्तमृत्तिकाया शीघ्रं कृतवान् । ततस्तं मिथ्यादृष्टिं
ज्ञात्वा भव्यसेनस्याभव्यसेननाम कृतम् । ततोऽयस्मिन् दिने पूर्वस्यां
दिशि पद्मासनस्थं चतुर्भुजं यज्ञोपनीताद्युपेतं दवासुरं वमानं ब्रह्मरूप
दारितम् । तत्र राजादयो भव्यसेनादयरच जना गताः । रेवती तु
कोऽयं ब्रह्मनाम देव इति भणित्वा लोकैः प्रेर्यमाणोऽपि न गता । एव
दक्षिणस्यां दिशि गरुडारूढं चतुर्भुजं च गदाशखादिधारकं वासु
देवरूपं, पश्चिमायां दिशि वृषभारूढं सार्धं चन्द्रजटाजूटगौरीगणो
पेतं शकररूपम्, उत्तरस्यां दिशि समवशरणमय्ये प्रातिहार्याऽहकोपेतं
सुरनरविद्याधरमुनिवृन्दं चमानं पर्यंकस्थितं तीर्थं कर्तव्यरूपं दारितम् ।

तत्र च सर्वलोकागता रेवती तु लोकैः प्रेर्यमाणापि न गता । नवैव
 वासुदेवा, एकादशैव रुद्रा, चतुर्विंशतिरेव तीर्थकरा जिनागमे
 कथिता* । ते चातीता* कोप्यय मायावीत्युक् वा स्थिता । अन्ये दिने
 चर्यावेलाया व्याधिहीणशरीरक्षुब्धकरूपेण रेवतीगृहप्रतोलीसमीप-
 मार्गे मायामूर्च्छया पतित । रेवत्या तमाकर्ण्य भक्त्योत्थाप्य नीत्वोप-
 चार कृत्वा पथ्य कारयितुमारब्ध* । तेन च सर्वमाहार भुक्त्वा दुर्गध-
 धमन कृतम् । तदपनीय ह्य ! विरूपरु मयाऽपथ्य दत्तमिति रेवत्या
 वचनमाकर्ण्य तेषा मायामुपसङ्ख्य ता देवी वदयित्वा गुरोराशीर्षादि
 पूर्ववृत्तात् कथयित्वा लोकरभये तु अमृद्वदष्टित्व तस्या उच्चैः प्रशस्य
 स्वास्थाने गत । बरुणो राजा शिवकीर्तिपुत्राय राज्य दत्त्वा तपो
 गृह्णात्वा माहेन्द्रस्वर्गे देवो जात । रेवत्यपि तप कृत्वा ब्रह्मस्वर्गे
 देवो बभूव ॥ ४ ॥

उपगूहने जिने द्रमक्तो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

सुराष्ट्रदेशे पाटलिपुत्रनगरे राजा यशोधरो राज्ञी सुसीमा पुत्र सुवीर
 सप्तव्यसनाभिभूतस्तथामृततत्स्कारपुरूपसेवित । पूर्वदेशे गौडविषये
 तामूहितनगर्यां जिने द्रमक्तश्रेष्ठिन सप्ततलप्रामादोपरि बहुरक्षकोपयुक्त
 पारर्वनापप्रतिमाङ्घ्रत्रयोपरि निशिष्टतरानर्ष्यवैडूर्यमणिं पारपर्येणाकर्ण्य
 लोभात्तेन सुवीरेण निजपुरुषा पृष्टा त मणिं किं कोऽप्यानेतु शक्तो
 ऽस्तीति । इन्द्रमुकुटमणिमप्यहमानयामीति गलगर्भित कृत्वा सूर्यनामा
 चौर वपटेन छुल्लको भूत्वा अतिकायकलेशेन ग्रामनगरक्षोभ
 कुर्वाण क्रमेण ताम्रलिप्तनगरीं गत । तमाकर्ण्य गत्वाऽऽलोक्य वदित्वा
 सभाप्य प्रशस्य क्षुभितेन जिने द्रमक्तिश्रेष्ठिना मीत्वा

दर्शयित्वा मापया अनिच्छन्पि स तत्र मणिरक्षको धृत । एकदा
 सुल्लरु पृष्ट्वा श्रेष्ठो समुद्रयात्रायां चलितो नगराद्बहिर्निर्गत्य स्थित ।
 स चौरचतुस्सको गृहजनमुपकरणनयनव्यग्रं ज्ञात्वा अर्धरात्रे त मणिं
 गृहीत्वा चलित । मणितेजसा मार्गं धोदृपालैर्दृष्टो धर्तुमारब्ध । तेभ्य
 पलायितुमसमर्थं श्रेष्ठि एव शरणं प्रसिद्धो मां रक्ष रक्षेति चोत्त्वान् ।
 कोटपालानां कलकलमाषण्यं पर्याप्तोभ्य त चौरं ज्ञात्वा दर्शनोपहास
 प्रच्छदनायै भणित श्रेष्ठिना—मद्वचनेन रत्नमनेनानीतमिति विरूपक
 भवाद्भि कृत यदस्य महातपस्विनरचौरोद्धोपणा कृता । ततस्ते तस्य
 प्रमाणं कृत्वा गताः । स च श्रेष्ठिना रात्रौ निघाटित । एवमन्येनापि
 सम्पद्दृष्टिना असमर्थाङ्गानपुरयादागतदर्शनदोषस्य प्रच्छादनं कर्तव्यम् ।

स्थितीकरणे वारिषेणो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

मगधदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिको रानी चेलिनी पुत्रो वारिषेण
 उत्तमश्रावक चतुदश्या रात्रौ कृतोपवासं शमशाने कायोःसर्गेण
 स्थित । तस्मिन्नेव दिने उषानिकषया गतया मगरसुन्दरीमिला-
 सिया श्रीकीर्तिश्रेष्ठिया परिहितो दिव्यो हारो दृष्ट । ततस्त दृष्ट्वा
 किमनेनालङ्कारेण विना जीवितेनेति सचित्य शय्यायां पतित्वा सा
 स्थिता । रात्रौ समागतेन तदासक्तेन त्रिद्यूचोरेणोक्त—प्रिये । किमेव
 स्थितासीति । तयोक्त—श्रीकीर्तिश्रेष्ठिया हार यदि मे ददासि तदा
 जीवामि त्व च मे भर्ता नायथेति श्रुत्वा तां समुदीर्य अर्धरात्रे गत्वा
 निजपाशलेन त हारं चोरयित्वा निगत । तदुद्योतेन चौरोऽयमिति
 ज्ञात्वा गृहरक्षके कोटपालैश्च धिपमाणो पलायितुमममर्था वारिषेण
 कुमारस्याग्रे त हारं धृत्वाऽदरयो भूत्वा स्थित । कोटपालैश्च त

तयालोस्य श्रेणिकस्य कथितम् देव ! वारिषेण धीर इति । त श्रुत्वां
तेनोक्त-मूर्धस्यास्य मस्तकं गृह्यतामिति । भातगेन योऽसिः शिरो
ग्रहणार्थं धादित स कण्ठे तस्य पुष्पमासा चभूत् । तमतिशयमाकर्ष्य
श्रेणिकेन गत्वा वारिषेण क्षमां कारित । लब्धामयप्रदानेन विद्यु
धारेण राज्ञो निजवृत्तान्ते कथिते वारिषेणो गृहे नेतुमारब्ध, । तेन
चोक्त मया पाशुपान्नेण भोक्तव्यमिति । ततोऽसौ सूतसेनमृनिसमीपे
मुनिरभूत् । एकदा राजगृहसमीपे पद्यासकूटप्राये चर्याया स प्रविष्ट ।
तत्र श्रेणिकस्य योऽग्निभूनिर्मन्त्री, तत्पुत्रेण पुष्पडालेन स्थापित
चर्यां कारयित्वा स सोमिह्ना निजमार्यां पृष्ट्वा प्रमुपुत्रत्वाद्वालसखि-
त्वाच्च स्तोरु मार्गानुव्रजनं कर्तुं वारिषेणेन सह निर्गत । आत्मनो
व्याघुटनार्थं क्षीरवृक्षादिकं दर्शयन् मुहुर्मुहुर्बदना कुर्वन् हस्ते धृत्वा
नीतो विशिष्टधर्मश्रवणं कृत्वा बैराम्यं नीत्वा तपो ग्राहितोऽपि सो-
मिह्नां न विस्मरति । तौ द्वावपि द्वादशवर्षाणि तीर्थयात्रा कृत्वा वर्ध-
मानत्वामिसमवसरणं गतौ । तत्र वर्धमानस्वामिन पृथिव्यारचं सम्ब-
न्धिगीन देवैर्गीयमानं पुष्पडालेन श्रुत । यथा

“मडल कुचेली दुम्मनी नाहे पविसिय एण । (नाहेय वसियएण)
कह जीवे सह धणियघर उज्झते हियएण ॥”

एतदात्मन सोमिह्नायाश्च मयोभ्य उक्त्वण्ठतरचलित, । स वारि-
षेणेन ज्ञात्वा स्थिरीकरणार्थं निजनगरं नीतः । चेळिया तौ दृष्ट्वा
वारिषेण किं चारित्राचलिनः ? आगच्छतीति सचित्तं परीक्षणार्थं सत
गवीनरागे द्वे आसने दत्त । वीतरागासने वारिषेणेनोपरियोक्तं मदी-
यमन्तं पुरमनीयता ततरचेळिया महादेव्या द्वात्रिंशद्भार्या सा लङ्का

रा आनीता । ततः पुष्पडालो वारिष्येणेन भयित खियो मदीयम् युव
 राजपद च त्व गृहाण । तच्छ्रुत्वा पुष्पडालो अतीबलजिन पर वरा
 ग्य गत परमार्थेन तप कर्तुं लग्न इति ॥ ६ ॥

वात्सल्ये विष्णुकुमारो दृष्टान्तोऽस्य कथा—

अत्र तददेशे उज्जयिन्या श्रीधर्मा राजा तस्य बलिभूहस्पति प्रवृहदो
 नमुचिरचेति चत्वारो मन्त्रिणः । तत्रैरुदा समस्तधृताधारो दिव्यज्ञानी
 सप्तशतमुनिसमन्वितोऽकम्पनाचार्य आगत्योद्यानके स्थित । मम
 स्तसघश्च वारित राजादिकेऽप्यायाने केनापि जग्गन न वर्तयमयथा
 समस्तसघस्य नाशो भविष्यतीति । राजा च धवलगृहास्थितेन पूजा-
 हस्त नगरीवन गच्छन्त दृष्ट्वा मन्त्रिण पृष्टा काय लोकोऽकालयात्रायां
 गच्छतीति । तैरुक्त क्षपणका बहवो बहिरुद्याने आयातास्तत्राय जनो
 याति । वयमपि तान् दृष्टुं गच्छाम इति भणित्वा राजापि तत्र मन्त्रि-
 समन्वितो गत । प्रत्येके सर्वे बद्धिता । न च केनापि आर्गावाद्दो
 दत्त । दिव्यानुग्रहेनातिनिस्पृहास्तिष्ठतीति सचि ल्य व्याघुटिते
 राज्ञि मन्त्रिभिर्दुष्टामिप्रार्थैरुपहास कृत बलीवर्दा एते न किञ्चिदपि
 जानति मूर्खा दम्भमौनेन स्थिता । एव बुभुक्षुर्गं हृद्विरमे चर्या
 कृत्वा श्रुतसागरमुनिमागच्छन्तमालोक्योक्त "अथ तरुणग्लीवर्द
 पूर्णकुक्षिरागच्छति । एतदाकर्ण्य तेन ते राजाग्रेऽनेका तत्रादन जिता ।
 अकम्पनाचार्यस्य चागत्य वार्ता कथिता । तेनोक्त सर्वसघस्त्वया
 मारित । यदि घादस्थाने गन्वा रात्रौ त्वमेकान्ति तिष्ठसि तदा सघ-
 स्य जीवितय तत्र शुद्धिश्च भवति । ततोऽमी तत्र गन्वा मायोत्स-

गेऽ स्थितः । मत्रिमिधातिलज्जितै क्रुद्धे रात्रौ सव मारयितु गच्छ-
 द्विस्तनेक मुनिमालोक्य येन परिभय कृत स एव हतव्यः इति
 षाजोप्य तद्व्यापं युगपच्चतुर्भि खद्गा रद्रीणा । षम्पितनगरदे-
 वनश्च तथैव ते कीलिता । प्रभाते तथैव ते सर्वलोकं दृष्ट्वा । रुष्टेन
 राज्ञा “त्रमागता इति न मारिता गर्दमारोहणादिक वारयित्वा
 निर्वाप्तिना । अथ कुरुजागलदेशे हस्तिनागपुरे राजा म्हापन्नो राज्ञी
 वक्षामनी पुत्रौ पन्नो विष्णुश्च । स ष्मदा पन्नाय राज्य दत्त्वा महा-
 पन्नो विष्णुना सह श्रुतसागरचन्द्राचार्यस्य समीपे मुनिर्जात । ते च
 बलिप्रमृतय आगत्य पन्नराजस्य मत्रिणो जाता । बुष्मपुरदुर्गे च
 सिंहबलो राजा दुर्गबलात् पन्नमण्यनस्योपद्रव करोति । तद्ग्रहणचि-
 तया पन्न दुर्बलमालोक्य बलिनोक्त किं देव ! दार्वक्ये वारणमिति ।
 वयिन च राज्ञा । तद्भुत्वा आदेश याचयित्वा तत्र गत्वा बुद्धिमाहा
 स्येन दुर्गं भङ्गत्वा सिंहबल गृहीत्वा व्याघ्रव्यागत । तेन पन्न
 स्यासी समर्पित । देव ! सोऽय सिंहउ इति । तुष्टेन तेनोक्त वादित्त
 वर प्राथयेति । बलिनोक्तं यदा प्राथयिष्यामि तदा दीयतामिति ।
 अथ वनिपयदिनेषु विहरतस्तेऽस्मन्नाचार्यादय सप्तदानयतयत्तत्रा-
 गता । पुरक्षोगद्बलिप्रमृतिस्तान् परिज्ञाय “राजा एतद्रक्त ” इति
 पर्णालोध्य भयात्तमारणार्थं पन्न पूर्णवर प्रार्थित - समदिना यस्मात्
 राज्य देहानि । तनोऽर्मा सप्तदिनानि राय दत्त्वाऽन्त पुरे प्रविश्य
 स्थित । बलिना च आतापनगिरी षयोऽर्गैर स्थितान मुनिन्
 वृत्सावेष्ट्य मण्डपं कृत्वा यज्ञं कर्तुमारब्धः । उच्छिष्टसरवच्छाणादि-
 नीवकलेत्रैर्धैरैश्च मुनीनां नारणायमुपसर्गं कृत । ७

सयासेन स्थिताः । अथ मियिसानगयोमर्धरात्रे यद्विधिर्निर्गतश्रुत
सागरचन्द्राचार्येण आकाशे श्रवणनक्षत्र कम्पमानमालोक्यायधिज्ञा-
नेन (निमित्तशास्त्रज्ञानेन) द्वात्वा भणित-महामुनीनां महानुप-
सर्गो बलते तद्भुत्वा पुष्पधरनाम्ना विद्याधरक्षुल्लकेन पृष्ट भगवन् ।
क केषां मुनीनां महानुपसर्गो वर्तते ? हस्तिनापुरे अरम्यनाचा-
र्यादीनां सप्तशतयतीनामुपसर्गः । कथं नश्यति ? धरणिभूषण-
गिरौ विष्णुकुमारमुनिर्विक्रियद्विसम्पन्नस्तिष्ठति स नाशयति । एत
दाकर्ण्य तत्प्रमीये गत्वा क्षुल्लकेन विष्णुकुमारस्य सर्वस्मिन् वृत्तान्ते
कथिते मम किं विक्रिया ऋद्धिरस्तीति सच्चित्त्य तत्परीक्षार्थं हस्तः
प्रसारित । स गिरिं भित्त्वा दूरे गत । ततस्तां निर्णीय तत्र गत्वा
पद्मराजो भणित - किं त्वया मुनीनामुपसर्गं धारितः । भवकुले
केनापीदृशं न कृतम् । तेनोक्तं किं धरोमि भया पूर्वमस्य धरो दत्त
इति । ततो विष्णुकुमारमुनिना वामनब्राह्मणं कृत्वा दिव्यध्वनिना
प्रा ययनं कृत । वलिनोक्तं किं तुम्य दीयते । तेनोक्त-भूमे पाद-
त्रयं देहि । प्रदत्तब्राह्मण ! बहुतरमपद् प्रार्थयेति धारं धारं लोकेर्म-
ण्यमानोऽपि तावदेव याचते । ततो हस्तोदकादिविधिना भूमिपाद-
त्रये दत्ते तेनैकपादो मेरौ दत्तो द्वितीयो मानुषोत्तरगिरौ तृतीयपादेन
देवविमानादीनां क्षोभं कृत्वा बलिपृष्ठे त पादं दत्त्वा बडिं बद्ध्वा
मुनीनामुपसर्गो निवारितः । ततस्ते चत्वारोऽपि भद्रिणः पद्मस्य
भयादागत्य विष्णुकुमारमुनेरकम्पनाचर्मादीनां च पादेषु लग्नाः ।
ते भद्रिणः श्रावणकारचं जाना इति ॥ ७ ॥

प्रभायनाया ब्रह्मकुमारो दृष्टान्त्वोऽम्ब कथा—

हस्तिनापुरे ब्रह्मरानस्य पुगेहितो गृहन्तुः स्रेन्द
 तेन सकलशास्त्राणि पठित्वा धार्मिकपुरे निवसन्सुदृष्टिः स्रेन्द
 मणितम् । माम् ! मा दुर्मुसराण्य दशरोते । न च गर्भिके के
 दर्शित । तनो ग्रहितो भूत्वा समाधा स्वप्नेव त दृष्ट्वा कर्त्तव्य
 दत्त्वा सर्वशास्त्रकुशलं प्रकाशय मन्त्रिपद लभयन् । तदष्टनूत्
 लोक्य सुभूतिमामो यज्ञदत्ता पुत्री पणिसुतु दत्तवन् । पद्मा कन्या
 गुर्णिया (गर्भिया) वर्षागल व्याघ्रालनद्वये गेहचक्रे बत ।
 तत सोमदत्तेन तायुधानवने अवेपथ्य कर्मरुष सुन्निचये
 योगं गृहीतथास्त नानाफन फनिन दृष्ट्वा तन्त्यान्वयार पुत्र
 हस्ते प्रेषितवान् । स्वयं च धर्मं श्रुत्वा निष्किस्र्या गृहीत्वा क्रम-
 मग्रील परित्ततो भूत्वा नामिगिरा अत्यन्त स्थित । यत्रदत्ता
 च पुत्र प्रमूता नीतम् श्रुत्वा बधुसनाय गता । न्य श्रुद्धि वात्वा
 बधुभि सह नामिगिरि गत्वा तमातननभदगात्तान्तकोपात्तपादोपरि
 बासक घृत्वा दूर्बचनानि दस्वा गृह्णन् । अत्र प्रमत्ते दिवाकरदेव-
 नामा विद्याधरोऽमरावतीपुर्या पुन्दराणां श्रुत्या राज्यानिर्धा-
 टित । सकलत्रो मुनि वन्दितुमस्मन् । त दृष्ट गृहीत्वा निज-
 भार्याया समर्थ ब्रह्मकुमार इति नाम इत्त गत । स च वत्र
 कुमार ब्रह्मनगरे निमलबद्धनिर्बन्धुनिकसमीपे सर्पविद्यापारगो
 युवा च ब्रमेण जात । अथ गन्तव्येऽहवयो पुत्री पवनवेग
 हेम तपर्वते प्रहृष्टि विद्या म्हायनेषु सावयन्ता पवनाय स्थितवदरी
 ब्रह्मदत्तेन लोचने विद्या । तन्त्यापारया चटचित्ताया ।
 निरुधाने । ततो वनमु मार्गसु च नां तया दृष्ट्वा विमानेन

मुद्बत* । तत* म्भिरचित्तायास्तस्या विद्या सिद्धा । उक्त च तया भव-
 त्प्रसादेन ण्या विद्या सिद्धा त्वमेव मे भर्सेत्युक्त्वा परिणीता । वज्र-
 कुमारेणोक्त तात ! अहं कस्य पुत्र इति मत्स्य कथय । तस्मिन् कथिते
 मे भोजनादौ प्रवृत्तिरिति । ततस्तेन पूर्ववृत्तान्त सर्व* सत्य एव
 कथित । तमाकर्ण्य निजगुरु द्रष्टुं व*तुभि सह मथुराया क्षत्रिय
 गृहाया गत । तत्र च सोमदत्तगुरोर्दिवान्तरदेवेन बदना कृत्वा
 वृत्तान्त कथित* । समस्तवधून् महता कष्टेन विसृज्य वज्रकुमारो
 मुनिर्जात । अत्रान्तरे मथुरायामया कथा—राजा पूतिगन्धो राज्ञी
 उर्विला । सा च सम्यग्दृष्टिरतीव जिनधर्मप्रभावनाया रता । नदी
 अराष्टदिनाणि प्रतिवर्षं जिनेन्द्रथयात्रा या ग्रीन् धारान् कारयति ।
 तत्रैव नगर्यां श्रेष्ठी सागरदत्त श्रेष्ठिनी समुद्रदत्ता पुत्री दरिद्रा । मृते
 सागरदत्ते दरिद्रा एकदा परगृहे निजित्तसिन्धुयानि भक्षयन्ती चर्या
 प्रपिष्टेन मुनिद्वयेन दृष्ट्वा ततो लघुमुनिनोक्त हा ! धराकी महता
 कष्टेन जीवतीति । तदाकर्ण्य ज्येष्ठमुनिनोक्त अत्रैवास्य राज्ञ (पट्टराज्ञी)
 वज्रभा भविष्यतीति । भिक्षा भ्रमता घमश्रीरत्नेन तद्वचनमाकर्ण्य
 नायथा मुनिभाषितमिति सचिल्य स्वप्रिहारे ता नीत्वा मृष्टहारै
 पोषिता । एकदा यौवनभरे चंद्रमासे आदोलयतीं ता राजा दृष्ट्वा
 अतीव निरहानस्था गत । ततो मत्रिभिस्ता तदर्थं वदको याचित* ।
 तेनोक्त यदि मदीय धर्मं राजा गृह्णाति तदा ददामीति । तत्सर्वं
 कृत्वा परिणीता । पट्टमहादेवी तस्य सानिग्लभा जाना । फाल्गुन
 नदीश्वरयात्रायामुर्जिलारथयात्रामहारोप दृष्ट्वा तया भणिता । देव !
 मदीयो बुद्धरथोऽधुना पुर्यां प्रथम भ्रमन्तु । राजा चोक्तमेव भवित्विति ।

तत्र उच्यते श्रुति-मदीया रयो यदि प्रथम धमति तदाहारे मम प्रवृ-
 त्तिरपदा निवृत्तिरिति प्रतिज्ञां गृहीत्वा क्षत्रियगुहायां सोमदत्ताचार्यपादेषु
 ग्ना । तस्मिन् प्रस्तावे उरुमुत्तममुनेर्वदनामनुस्यर्षमप्यता दिवाक-
 रदेवदयो मियाधगम्नशपवृत्ता न च भुक्त्वा उरुमुत्तममुनिना ते भाणि-
 त्त । उच्यते प्रतिज्ञाया रचनाया कारिका तन्निर्णय दृष्ट्वा
 पुनिमुक्ता सुददासी अये च जना विनामगता जाता इति ॥८॥२०॥

विशेष

सम्यग्दान प्रताति यच्च श्रद्धा ध्यान ये पयापवाची शब्द
 सद्गृष्टिके हे जिनका लक्षण तोमरा कारिकाये घताया हे । इनके
 आठ अंग हे । अङ्ग शब्दका अर्थ । अथय हे सम्यग्दान अङ्ग हे
 अथयश हे और अस्मया आदि उमके अंग हे ॥ अंग पदका अर्थ
 साधन और कारण भा हे । सम्यग्दान साध्य कार्य हे और ये
 अस्मया आदि साधन हे । तथा अङ्गका अर्थ लक्षण-चिह्न भी
 हे । जिनके सम्यग्दान होता है उसक ये अस्मय आदि चिह्न-
 अथय हान हे । उनके नाम अस्मया १ अनाकाहक्षणा २ निर्नि-
 चिकित्सिता ३ धमूदा ४ उपगुहन ५ स्थितीकरण ६ घातसत्य
 ७ प्रभायना ८ जिनका वाच्य स्वरूप लक्षण ग्यारमी कारिकासे
 अठारमी कारिका तक प्रथमे म्यामो
 भीरतासे घताया हे । इतना विचार धिक्ता
 धम्मदादि ज रोग सम्यग्दान प्रकट
 इन आठों अंगोंका धारण करो ।

जो ये सम्यग्दानक आठ अंग
 निषेधरूप हे । मज्ज (शुद्ध)

कित्सा (ग्लानि) ३ मूढता (मूलता) मिथ्यातियोंकी प्रशंसा और स्तुति इनका न होना न करना ऐसा बताया है इसके करनेसे सम्यग्दर्शन अतोच्चार सहित हा जाता है। मूढतामें विधमो मिथ्या दृष्टियोंकी प्रशंसा करना और प्रत्यक्ष स्तुति करना ये दोनों गमित हैं अर्थात् शशा काशा विगिक्कित्मा अन्यदृष्टि-प्रशंसा और अन्यदृष्टिसस्तव इन पाँचों अतोचारोंका कथन आ जाता है। और धार अङ्ग विधेय रूप हैं कर्णोय हैं ये चारो सधर्मियोंमें किये जाते हैं जो इनका नहीं करता है उससे यह सम्यग्दर्शन कदाचित्त भी नहीं होता।

ननु सम्यग्दर्शनस्याष्टभिरगै प्ररूपिते किं प्रयोजनं ? तद्वि-
कलस्याप्यस्य समारोन्धेदनमामर्थममसादित्याशक्याह -
उपर्युक्त निरशाङ्कितादि अगोवला ही सम्यग्दर्शन मोक्षका साधक
है ? यदि ममस्त अङ्ग न हों तो क्या वह ससारका
नाशन होगा ? इसका उत्तर कहते हैं—

**नाङ्गहीनमल छेत्तु, दर्शन जन्मसन्ततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो, निहन्ति विश्वेदनाम् २१**

दर्शन कतु । 'नानम तति' ससारप्रमथ । 'छेत्तुम्' उच्छे-
दन्ति 'नात' न समर्थ । कर्णभूत तत्, 'अङ्गहीन' अङ्गैर्नि-
शङ्कित्त्यादिस्वरूपैर्हीन निवृत्तम् । अस्यैश्वर्यस्य समर्थनार्थं दृष्टा त-
माह—'नहि' इत्यादि सर्पादिदृष्टस्य प्रसृतसर्पाङ्गविष्वेदनस्य तदपह-
रणाथ प्रयुक्तो मन्त्रोऽन्वेणापि 'यूना' हीनो 'नहि' नैव 'निहन्ति'

स्फोटयति विषवेदनाम् । ततः सम्यग्दर्शनस्य ससारोच्छेदसाधनेऽर्था-
गोपेतव्यं युक्तमेव ॥ २१ ॥

अन्वय - अज्ञहीन दर्शन जन्मसन्तित धेतु न अल । यथा
अक्षरयून मत्र, विषवेदनां न हि निहन्ति ॥

निरुक्ति - अज्ञेन हीनमिति अज्ञहीनम् । जन्मनां सतति
इति जन्मसततिः ताम् । अक्षरेण यून अक्षरयूनः । विषस्य वेदेना
विषवेदना ताम् विषवेदनाम् ॥

अर्थ - अज्ञहीन सम्यग्दर्शन जन्ममरणकी परम्पराका
नाश नहीं कर सकता जैसा कि हीन अक्षरवाला मत्र विष
की वेदनाको दूर नहीं कर सकता ।

तस्य ससारोच्छेदसाधनं स्यादिति चेदुच्यते, "त्रिमूढापोढम्"
इति । "लोकदेवतापाम्बुण्डमूढभेदात् त्रीणि मूढानि भवति ।" तत्र
लोकमूढ तावदर्शयन्नाह—

परिपूर्ण अज्ञवाले सम्यग्दर्शनके होते हुवे भी जबतक
मूढ भावना दूर न किया जायगा तबतक वह ससारका नाश
नहीं कर सकता इसीलिये उन तीनों मूढ भावोंका त्याग
करना चतुर्थ कारिकायें बताया है । उनका स्वरूप जाने
बिना त्याग नहीं बनता इसलिये उनका स्वरूप बताते
हुवे प्रथम लोकमूढका लक्षण बताते हैं—

१-स निरंतर तनन सतति निरवच्छिन्नविस्तृति । स
पूर्वक तनु विस्तारे धो क्ति स्त्रिया क्ति " २३३८० इति क्ति
२-विदुल्ल ताभे धा "प्यास्विच्छु विघट्टिन्दोऽन " २३३९४ इति
भावेस्त्रालिङ्गे एतः । विघते लभ्यते धनुभूयते इति सा पेद्मा पीटा

आपगासागरस्नान मुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च, लोकमूढं निगद्यते ॥२२॥

‘लोकमूढम्’ लोकमूढ्य । किं ? ‘आपगासागरस्नानम्’ आपगा नदी, सागर समुद्र, तत्र त्रेयः साधनाभिप्रायेण यत्स्नानं न पुन शरीरप्रक्षाटनाभिप्रायेण । तथा ‘उच्चय’ स्तूपविधान । केपाः सिकताश्मना’ सिकता बालुका, अश्मान पाषाणास्तेषाम् । तथा ‘गिरिपातो’ भृगुपातादि । ‘अग्निपातश्च’ अग्निप्रवेश । एवमादि सर्वा लोकमूढ ‘निगद्यते’ प्रतिपाद्यते ॥ २२ ॥

अन्वय — आपगासागरस्नान लोकमूढ निगद्यते । सिकताश्मनाम् उच्चय लोकमूढ निगद्यते । गिरिपात लोकमूढ निगद्यते । च अग्निपात लोकमूढ निगद्यते ॥ २२ ॥

निरुक्ति — आपा समूहो यत्र स आप, घ्राणे गृह्णति सा आपगा । आपगारच सागरारच आपगामागरा । आपगा सागरेषु स्नानम् इति

१- गमे खचखडा ० २२१ ८ इति उ खोत्रे टाप् । २-सगरस्यकिप्रतिन गायत्रा तद्गुर्वै सृष्ट गीत वात्प्रणादिय खति तश्चेति मागर । ३-उष्णान् चप्र चयनं धा टाप्रहृद्गुग्म-सूरणोऽच ० २३३ ३ इति गाय १च् । उत् ऊ २ चयनम् उच्चय स्थण्डिलच्छत्रागागणा निम्र पनमित्यध । ४-कुपातो लोफान् दृष्टवा स्वयमविच ग माहन मिथ्याचरणमिति लास-मूढम् । ५-गद्गु ध्यक्ताया धो कमाण ० २८ । ऋषिभिरुच्यते उपासकाध्यने इति भाव ।

घ्रापगासागरस्नानम् । सिकतारच अरमानरच इति सिकतारमान
तेषा सिन्धत रमनाम् । गिरे पातः गिरिपात, । अग्नौ पात इति
अग्निपात* । लोकस्य मूढ लोकैः सह मूढो वा लोकमूढ ।

अर्थ-नदी समुद्रर्म स्नान करना लोकमूढता है और
चूने पत्थरोंके चवूतरे बनानेमें धम समझना लोकमूढता
है । पर्वतसे गिरना अग्निमें जलना धर्म जानकर सो सब
लोकमूढता है ।

देवतामूढ व्याख्यातुमाह—

अथ देवमूढताका स्वरूप वर्णन करते हैं ।

वरोपलिप्सयाशावान्, रागद्वेषमलीमसा ।

देवता यदुपासीत, देवतामूढमुच्यते ॥ २३ ॥

‘देवतामूढम्’ ‘उच्यते’ ‘यदुपासीत’ आराधयेत् । का
‘देवता’ । कथभूता, ‘रागद्वेषमलीमसा’ रागद्वेषाम्ब्या मलीमसा
मलिना । किं विशिष्टं ? ‘आशावान्’ पेहिकाफलमिलापी । फत्या ।
‘वरोपलिप्सया’ वरस्य वाञ्छितफलस्य, उपलिप्सया प्राप्तुमिच्छया ।
नन्वेव श्रावकादीना शासनदेवतापूजाविधानादिक सम्यग्दर्शनम्ला
नताहेतु प्राप्नोतीति चेत् एतमेतत् यदि वरोपलिप्सया हुर्यात् ।
यदा तु सक्तदेवतात्वेन तासा तत्करोति तदा न तन्म्लानताहेतु ।
तत् कुर्वतश्च दर्शनपक्षपाताद्वरमयाचितमपि ताः अयच्छन्त्येव ।
सदकरणे चेष्टदेवताविशेषात् फलप्राप्तिर्निर्विघ्नतो भटिति न

न हि चत्रवर्तिपरियाराऽपूजने सेवकाना चक्रवर्तिनः, समाशान् तपो
फलप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २३ ॥

अन्वय - तत् दैवतामूढम् उच्यते । तत् किम् ? यत् आशा
वान् पुरुष, वरोपलिप्सया देवता उपासीत । कथं भूता देवता* ।
रागद्वेषमलीमसा ॥

निरुक्ति.-वरस्य इष्टस्य उपलिप्सा (उपलब्धुमिद्धा) वरो
पलिप्सा तथा । आशा विद्यते यस्य स आशावान् । मल विद्यते येषु ते
मलीमसा । रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषी । रागद्वेषाभ्यां मलीमसा इति राग
द्वेषमलीमसा । देव एव दैवता ॥

अर्थ-उस हेतुको देवतामूढ कहते हैं जिससे आशा
वान् पुरुष इष्टवस्तुके प्राप्त होनेकी इच्छासे देवताओंकी
सेवा करता है । कैसे है वे देवता जो रागद्वेषसे मलीन हैं

इदानीं सदर्शनस्वरूपे पापण्डिमूढस्वरूप दर्शयन्नाह
तीसरी पापण्डिमूढताका लक्षण बताते हैं-

सग्रन्थारम्भहिंसाना, ससारावर्त्तवर्तिनाम् ।
पापण्डिना पुरस्कारो, ज्ञेय पापण्डिमोहनम् ॥२४

१-मगदीमसञ्च ॥३१॥७० इति इमस त्व । मला दापा
विद्वयते यामा ता मलीमसा । मलीना मलयुक्ताः इत्यर्थः ।

२-उत्पृष्टा इन्द्रमप् प्राप्ती धा मनतात् "त्यात्" २।३।६६
इति अत्य स्त्रियाम् टाण ।

३-होत्राद्योपधेश्छनलदम् ४।२।७६ स्वार्थं तल ।

पापण्डिमोहन श्रेय ज्ञातव्य । कोऽसौ ? - पुरस्कार । प्रशसा ।
 केषा ? 'पापण्डिना' मिथ्यादृष्टिलिङ्गिना । किं विशिष्टाना । ? 'सप्र-
 थारम्महिंसानाम्' प्रथारच दासीदासादयः, प्रारभारच कृष्यादयः
 हिंसारच अनेकविधा प्राणिभया सह ताभिर्वर्तते इत्येव ये तेषाम् ।
 तथा 'ससारावर्तवर्तिना' ससारे श्रावर्तो भ्रमण येभ्यो विनाहादिक
 र्भ्रम्यस्तेषु वर्तते इत्येव शीलास्तेषाम् । एतेस्त्रिमिर्मूढैरपोढत्वसम्पन्नम्
 सम्यग्दर्शन ससारोच्छ्रितिकारणम् अस्मयत्वसम्पन्नवत् ॥ २४ ॥

अन्यय - पाखण्डिना पुरस्कार पाखण्डिमोहनम् ज्ञेयम् कय-
 भूताना पाखण्डिनाम् ? सप्रथारभहिंसानाम् पुन ससारावर्तव-
 र्तिनाम् ॥

निरुक्ति - पाखण्ड विद्यते येषां ते पाखण्डिनै तेषां पाख-
 ण्डिनाम् । प्रथरच थारम्मग्रच हिंसा च इति प्रथारम्महिंसा ।
 ताभिः सहिता सप्रथारम्महिंसा तेषाम् । ससारे श्रावर्ता
 इति ससारवर्ता, तेषु वर्तते वर्तयते इत्येव शीला ते ससारवर्तवर्तिनः
 तेषाम् ॥ २४ ॥

१-पाखण्डिनामुपदेशेन सगत्या च मोहन मिथ्यात्वमिति
 पाखण्डिमोहनम् गुरुमुद्धतेत्यर्थं । पाखण्ड पापण्ड उभौ शुद्धौ ।

२-अतोऽनाकाच ॥३१७५ धयया "द्वन्द्वगणार्हात् प्राणिन्य
 स्वाङ्गात्" ४।१।८८ इत्यनेन च गद्यात् पाखण्डशब्दात् (कपट
 वेशार्थनात्) इन् मत्वर्थे । ३-"चार्थे द्वन्द्वः" १।३।६६ द्वन्द्वसः
 "पुन तेनसहेति तुल्ययोगे" १।३।६५ वस । ४-शुद्ध वर्तते धो
 कर्त्तारि हेतुश्चरि घा "शोलेऽनातीर्षिनः" । २।३।७८ इति ऋणु

अर्थ-पाखण्डियोंका-कुवेरियोंका सत्कार करना सो पाखण्डिमोहन है। कैसे हैं वे ? परिग्रहसहित आरम्भ सहित और हिंसा सहित हैं इसीसे वे सत्कारक्रममें पड़े हुये हैं और पाडनेवाले हैं ॥

कः पुनरय स्मय कति प्रकारश्चेत्याह—

जिस प्रकार मूढ भावोंके त्याग करनेसे अष्टाङ्ग सम्पददर्शन निर्मल होता है, उसी प्रकार स्मयोंके (मर्दोंके) त्याग करनेसे उसमें निर्मलता बढ़ती है, ऐसा ज्ञात करनेके लिये स्मयका साक्ष्य और उसके भेद बताते हैं।

ज्ञानं पूजा कुल जातिं, बलमृद्धिं तपो वपु ।

अष्टावाश्रित्य मानित्व, स्मयमाहुर्गतस्मया २५

'आहु'बुवति । कं ? 'स्मय' । के से ? 'गनस्मया नष्टमदा भिना । किं तत् ? 'मानित्व' । किं कृत्वा ? 'अष्टावाश्रित्य' । तथा हि । ज्ञानमाश्रित्य ज्ञानमदो भवति । ननु शिल्पमदस्य नवमस्य प्रसंकेरष्टाविति सद्भवानुत्पन्ना इत्यप्ययुक्तं तस्य ज्ञाने एवात्तर्भावात् ॥ २५ ॥

अन्वय-अष्टौ आश्रित्य यत् मानित्व भवति तत् गनस्मया

१-अष्टौ-अष्टन् अस् वाच "अष्ट औशू" ५।१।१६

२-आहु पुंजक श्रिभू सेधाया घोः क्तया "प्यस्तित्वापसे क्तवः" ५।१।३१ इति प्यः आदेशः

स्मयम् आहुः । किं तत् अष्टौ ज्ञान पूजा कुल जाति कर्म आहुः
तप वपु ॥

निरुक्ति - गताः स्वया येषां ते गतस्वया, मान विषय वक्ष्य स
मानी । मानिनो भात्रो मानिवम् ।

अर्थ - आठोंक आश्रयसे जो अभिमान करना, उसको
मदरहित आचार्योंने मद कहा है । कोनेसे वे आठ ।
ज्ञान पूजा कुल जाति कुल श्रद्धि (सम्पदा) तप
शरीर ॥ २५ ॥

१-आहुः प्रवृत्ति । "ब्रूय आह्वय" २११२ इत्यन्त ब्रू
ष्यक्ताया जाति धो आह जादेग से उमादेशम् ।

२-शास्त्रज्ञान शिल्पविद्या, १ राजमान्यता प्रवृत्तयः ३ शीर्ष
सन्तति कुलम् । ३ जायते उन्पद्ये वक्ष्य सा जति जति
रित्यपि पाठ न्याति देशमापायाम । जेष "उन्पति म्हाजन"
"धारहन्त्यानि घामण" इत्यादि वाक्य आचार्य मवात्र मान्यता
आदिमे बोले जाते हैं ४ । मानसिद्धरुद्धि वक्ष्यते वाक्यशक्ति ५
घन सपदा राज्य त्रिश्रुतिका होना ६ । श्लोक उपवासादि
आठों ही पदाय उत्तम है पुष्पोदयसे मिलने है यदि इनका आश्रय
कर दूमरीको नीचा दिखावे सा मद-स्वय दोष है । जैसे
विद्यया विद्यादाय धन मदाय, श्रेष्ठ वीर्या परिपीडनाय
बलस्य साधो विपरीतमेतद् आचार्य इत्यादि ७ ।

१. अनेनाष्टविधमदेन चेष्टमानस्य दोष दर्शयन्नाह—

उस मदके करनेसे जो दोष लगे हैं उनको बताते हैं ।

स्मयेन योऽन्यान्त्येति, धर्मस्थान् गर्विताशय ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीय, न धर्मो धार्मिकैर्विना । २६

॥ 'स्मयेन' उक्तप्रकारेण 'गर्विताशयो' दपितचित्त यो जीव ।
'धर्मस्थान्' रत्नत्रयोपेतानयान् । 'अत्येति' अधधीरयति अत्रशुभाऽ
तिक्रामतीत्यर्थः । 'सोऽत्येति' अधधीरयति । कः 'धर्म' रत्नत्रय ।
कथभूतम् 'आत्मीय' जिनपतिप्रणीतम् । यतो धर्मो 'धार्मिकै' रत्न
त्रयानुष्ठायिभिर्विना न विद्यते ॥ २६ ॥

अन्वय—य गर्विताशय सन् अ यान् धर्मस्थान् अत्येति स
आत्मीय धर्मम् अत्येति । धार्मिकै विना धर्मो न भवति ॥ २६ ॥

निरुक्ति—धर्मो तिष्ठतीति धर्मम्या तान् धर्मस्थान् । गर्विताः
आशय यस्याऽसौ गर्विताशय । आत्मनोऽय आत्मीय तम् ।
धर्मो विद्यते येषां ते धार्मिका तै । अत्येति अति+एति (इणगन्तौ)
तिरस्करोति ।

१—"गर्वं द्वेषं" "गर्वं मागे" आभ्यां कतराभ्या धुभ्यात् त्व
इडागमश्च । गर्वते स्मेति गर्वितं द्रुत । आड् पूर्वक शिड् घो
म्यृप्रहृयृदृगभ्वसरणोऽच् २।३। ३ अनेन अच् । आशय अभिप्राय ।

२—आत्मन् शब्दान् दो छ ३।२।२०५ छत्य । २—धार्मिकै ।
अत्र "विना तिल" । १।३।३८ अनेन सम्बन्धे नृतीया विहिता ।
अथवा धर्मं शीलोपेयाति धार्मिका । शीलम् ३।३।२०६ इति ठण्
न धर्मो धार्मिकैर्विना इति चाक्ये हेतुत्रयम् अतएव हेतुरलकार ।

अर्थ-जो मदान्त्र (अहंकारका आश्रम) होता हुआ-
अथ धर्मात्मा चारित्रवान सज्जनोंका तिरस्कार (अव-
धारणा—अवहेलना) करता है वह अपने ही धर्मका
तिरस्कार करता है। क्योंकि धार्मिक सज्जनोंके विना-
कहीं अन्यत्र तो धर्म रहता ही नहीं। जब उनका तिर-
स्कार किया गया तो क्या धर्मका तिरस्कार नहीं हुआ ?
ननु कुलेश्वर्यादिसन्पन्नै समय कथ निपद्यु शक्य इत्याह-

यदि उत्तम जाति विशेष ज्ञान विज्ञान आदि प्राप्त हैं वे दर्शन
मोहनायके क्षय आदि करनेवालेके ह या उदयवालेके हैं। यदि
क्षयक उपशमक अथवा उभय भावके हैं तो क्या इतनी ही
त्रिभूतिसे सतुष्ट हो ? साम्राज्य लक्ष्मी समवसरण लक्ष्मी निर्गुण
सद्धमीकी आवश्यकता नहीं समझते ? यदि समझते हो तो इस क्षण-
स्थायीस्वल्प संपदासे क्या लाभ ; यदि कर्मोदय जनित समझते हो तो
यह कितनी देर रहेगी इससे इस सम्पत्ति पर क्या लाभ है ऐसा
समझकर धार्मिक पुरुषोंका निरस्कार करना उचित नहीं है। ऐसा
बताने हैं—

यदि पापनिरोधोऽन्य-सम्पदा किं प्रयोजनम् ।

अथ पापान्नरोऽस्त्य न्यसम्पदा किं प्रयोजनम् ।

पाप ज्ञानावरणाद्यशुभ कर्म निवृत्तते येनसौ 'पापनिरोधो'
रक्षणयसद्भाव स यस्ति तदा 'असम्पदा' अन्यस्य कुलेश्वर्यादि
सम्पदा सम्पत्त्या किं प्रयोजन, तन्निरोधेनोऽप्यपिकाया ।

तरादेतत्सम्पद* सद्भावमवबुद्धपमानस्य तन्नियन्धनस्मयस्यानुपपत्ते ।
 'अथ पापास्तत्रोऽस्ति' पापस्याशुभकर्मण आश्रयो मिथ्यात्वविरत्या
 दिरस्ति किं प्रयोजन अग्रे दुगतिगमनादिकर्मम् अथबुद्धपमानस्य
 तत्सम्पदा प्रयोजनाभावस्तन्स्मयस्य कर्तुमनुचिन्तयान् ॥ २७ ॥

अन्वय —यदि पापनिरोध* अस्ति तर्हि अथ यस्यपदा किं प्रयो
 जनम् । अथ पापास्तत्र अस्ति तर्हि अथ यस्यपदा किं प्रयोजनम् ॥

निवृत्ति --पापस्य निरोध इति पापनिरोध । अथ यच्च
 सम्पत् इति अथसम्पद् तथा अन्वयसम्पदा । पापस्य आश्रय इति
 पापाश्रय । प्रकरणेण युज्यतेऽनेन योजनमात्र वा प्रयोजनम् ।

अर्थ—जो पापका (मिथ्यात्वका) निरोध होता है
 तब अन्य विभूतिसे क्या मतलब ? अगर जो पापका
 (मिथ्यात्वका) आश्रय (बन्ध) हो रहा है तब भी उस
 पर विभूतिके रहनेसे क्या फायदा है कुछ भी नहीं ॥

यदि मिथ्यात्वका उदय नष्ट हो गया है और वह वर्तमानमें
 म्लेच्छ है (या पशु भी है) तो भी वह उत्तम है कि इस पर्याय छोड़ने
 पर सातिशय इन्द्रादिक पदको पायेगा ही इसलिये ऐसे धार्मिक
 पुरुषोक्ता तिरस्कार करना उचित नहीं है ऐसा यनाते हैं ।

१-सम्पूर्णक पद धोः "सपदादिभ्य ष्विप् ति" २।३।६।
 इति भावे ष्विप् त्य । सम्पद् विभूति । पुण्यवर्गवन्ध इत्यर्थे

२-आश्रयणम् आश्रयः जाड पुं किं थु धो "ट्टृप्रहृष्ट-
 गन्धस्तरणोऽच्" २।३।५ इत्यच् । पाति रक्षति धर्मादिति पापम्
 औष्णादिक पत्य । दर्शनमोहनोयम् । तस्य निरोध सधर ।

अधुमेवायं प्रदर्शयन्नाह—

सम्पग्दर्शनसम्पन्नमपि मातङ्गदेहजम् ।

देवा देवं विदुर्मसमगूढांगारान्तरीजसम् ॥ ८॥

‘देवम्’ अणुष्य । ‘विदुः’ मन्वन्ते । केने । ‘त्रिधाः’ ‘द्विधा
 रि तस्य समने जस्य धम्मे सुता मज्जे’ इत्यनिरन्तम् । कस्मिन्
 मातङ्गदेहजमपि चादात्मनरि । कथम् । ‘सम्पग्दर्शनसम्पन्नम्’
 सम्पग्दर्शनेन सम्पन्नं युक्तम् । अत्र ‘मसमगूढांगारान्तरीजस्य’
 मसमगूढांगारान्तरीजस्य अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं
 भोजनं प्रकृतं म च। सवङ्गाद्यन्म्य अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं
 भोजनं प्रकृतं निर्मलता यस्य ॥ २८ ॥

अन्वय—देवाः मातङ्गदेहजम् अपि त्वं विदुः । कथम् ।
 मातङ्गदेहजम् । सम्पग्दर्शनसम्पन्नं पुनः कथम् । मातङ्गदेहजम् ।
 मसमगूढांगारान्तरीजसम् ॥

निरुक्तिः सम्पग्दर्शनसम्पन्नम् इति सम्पग्दर्शनसम्पन्नम्
 तम् । तदात् ज्ञापते इति तदत्र मनुष्यं मातङ्गस्य देहजम् इति
 मातङ्गदेहजं तम् । मसमगूढं इति मसमगूढं । मसमगूढांगारान्तरीजस्य
 अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं । मसमगूढांगारान्तरीजस्य
 अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं । मसमगूढांगारान्तरीजस्य
 अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं अन्तरं मध्यं त्रैलोक्यं ॥

अर्थ— गणधर देव मातङ्गके पुत्रको भी देव परम
 है, यदि वह सम्पग्दर्शनस युक्त है और वह
 हुए अग्रेके ममान अन्तरगमे है भोज ।

भाप्रार्थ—यहापर उपमा उपमेय भावसे कहा है । मस्म (राख) के समान तो उम मातङ्गका शरीर है जोकि चाण्डाली और चाण्डालके रजवीर्यमे बना है इससे अनुत्तम है । अङ्गार (अग्नि) के समान जीव है । ओनके समान सम्यग्दर्शन है । इसमे उत्तम है । इम प्रकार यह मातंग पुत्र सम्यग्दृष्टि होने पर भी मस्ममे गढे हुए जाज्वल्यमान अग्निके समान है । जयतक वह राखर्म मे नहीं निकलता तबतक उसका प्रकाश कार्यकारी नहीं होता । उमी प्रकार चाण्डाल पुत्रका सम्यग्दृष्टि जीव जयतक उस चाण्डाल शरीरमे रहेगा तबतक उसके चारित्र नहीं हो सकता । किंतु वह एकदो भवमे अरथ चारित्रयान होगा इसलिये उसको द्रव्यनिक्षेपमे देव कहा है ।

एकस्य धर्मस्य विविध फल प्रकाशयेदानीमुभयोर्धर्मा धर्मयोर्यथाक्रम फलं दर्शयन्नाह—

सम्यक्त्व और मिथ्यात्वका क्रमसे पृथक् पृथक् फल बताते हैं ।

श्वापि देवोऽपि देव श्वा, जायतेधर्म किल्बिपात्
कापि नाम भवेदन्या, सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् । २९

‘श्वापि’ कुक्करोऽपि ‘देवो’ जायते । ‘देवोऽपि’ देव ‘श्वा’ जायते कस्मात् ? ‘धर्मकिल्बिपात्’ धर्ममाहात्म्यात् खलु श्वापि देवो भवति । किल्बिपात् पापोदयात् पुनर्देवोऽपि श्वा भवति । एव तत ‘कापि’ वाचामगोचरा ‘नाम’ स्पृष्ट ‘श्या’ न पूर्वा द्वितीया वा

'सम्पद् विभूतिविशेषो भवेत् कस्मात् ? धर्मात् । केषा ? 'शरीरिणा' सप्तारिणां यत एव ततो धर्म एव प्रेक्षावतानुष्ठानम् ॥२९॥

अन्वयः—धर्मकिल्बिपात् आगि देवो जायते देवोपि आ जायते नाम शरीरिणाम् कापि अया सम्पद् धर्माद् भवेत् ॥

निरुक्ति -- धर्मश्च किल्बिपश्च अनयो समाहार धर्मकिल्बिपम् तस्मात् । शरीरिणि विद्यते येषां ते शरीरिणः, तेषाम् नाम इत्ययम्

अर्थ—धर्मसे कृत्ता भी देव हो जाता है । तथा पापसे (मिथ्यात्वसे) देव भी कृत्ता हो जाता है मो भव्य जीव हो ! प्राणियोंको कोईक अद्वितीय ऐश्वर्य धर्मसे प्राप्त होता है ॥ २९ ॥

१-धर्मः सम्पत्त्वम् ।

-किल्बिपो मिथ्यात्वम् ।

३-नाम इति अश्वय 'नाम कोपेऽभ्युपगमे विस्मये स्मरणेऽपि च । सभाष्य कुत्साप्राकाशविश्लेषेऽपि दृश्यते ।" इति मेदनी ॥

प्रश्न-सम्पत्तिरा मा एक सम्पत्त्व और विपत्तिका साधक मिथ्यात्व ही ऐसा स्वयम्भवर स्वयम्भरको पूर्णत प्रकाशित होनेमें बाधा न आये इसलिये समय बरनेका निषेध किया है । भाग्यार्थ-उत्तम ज्ञाति ज्ञान आदिके आवेशर्म आकर धमात्मा पुष्टियोंका तिरस्कार (अनादर) करनेमें जो समय हो जाता है उससे उसके उपगृहन स्थितोत्तरण वात्सल्य प्रभावना ये गुण (अग) नष्ट । जाने गे इससे इन मर्दोंका करना भेष नहीं है ।

तेषानुष्ठिता दर्शनम्लानता मूलतोऽपि न कर्तव्येत्याह

अमृत निर्भेद सम्पद्यति इन मलिनताधोको न करे ऐसा उप-
वेश करते हैं ।

भयाशास्नेहलोभाच्च, कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।

प्रणाम विनय चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टय ॥३०॥

‘शुद्धदृष्टयो’ निर्मलसम्पक्त्वा न कुर्युः । कम् ? ‘प्रणाम’
उत्तमांगेनोपनतिम् । ‘विनय चैव’ करमुत्तुत्रप्रशसादिलक्षण । केषां ?
कुदेशागमलिङ्गिनाम् । कस्मादपि ? ‘भयाशास्नेहलोभाच्च’ भय राजा-
दिजनित, आशा च भागिनोऽर्यस्य प्रत्यावाप्ता, स्नेहश्च मित्रा-
नुराग, लोभश्च वर्तमानकालेऽर्थप्राप्तिगृद्धि, भयाशास्नेहलोभ
तस्मादपि । चशब्दोऽप्यर्थ ॥ ३० ॥

अत्रय शुद्धदृष्टय भयाशास्नेहलोभात् कुदेवागमलिङ्गिनाम्
प्रणाम च विनयम् एव न कुर्युः ॥

निरुक्ति भयश्च आशा च स्नेहरच लोभरच एषा समाहार
भयाशास्नेहलोभ तस्मात् । देवरचथागमश्च लिङ्गी च इति देवागम
लिङ्गिनः कुत्सितारचते देवागमलिङ्गिन इति कुदेवागमलिङ्गिन ।
तेषाम् । मूढत्रयमदाष्टकेभ्यो मतुभ्य शुद्धा मृष्टा ऋष्टि केषां ते
शुद्धदृष्टय ॥

अर्थ शुद्ध सम्पद्यति भयसे आशासे स्नेहसे लोभसे
कुदेवोंको कुशास्त्रोंको और कुलिङ्गियोंको न नमस्कार करे
और न विनय (याचना) करे ॥ ३० ॥

ननु मोक्षमार्गस्य रत्नत्रयरूपत्वान् कस्मादर्शनस्यैव प्रथमतः स्वरूपामिधानं कृतमित्याह-

सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक् चारित्र्यं रूपं मोक्षमार्गमे-
सम्यग्दर्शनको प्रथमं कथं वताया है । इसका उत्तर कहते हैं ।

'दर्शनं ज्ञानचारित्र्यात् साधिमानमुपाश्नुते ।

दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गं प्रचक्षते ॥ ३० ॥

'दर्शनं' कर्तुं 'उपाश्नुते' प्राप्नोति । कः 'साधिमान' साधुत्वमु-
ख्यत्व वा । कस्मान् 'ज्ञानचारित्र्यात्' । यतश्च साधिमान तस्मादर्श-
नमुपाश्नुते । 'तन्' तस्मात् । 'मोक्षमार्गं' रत्नत्रयात्मके 'दर्शन-
कर्णधार' प्रधानं प्रचक्षते । तत्रैव हि कर्णधारस्य नैव खेवटकैरत-
वस्थाधीना समुद्रपरतीरगमने नात्र प्रवृत्तिः । तथा ससारसमुद्र-
पर्यन्तगमने सम्यग्दर्शनकर्णधारधीना मोक्षमार्गनाव प्रवृत्तिः ॥

अन्वय-दर्शनं साधिमानं ज्ञानचारित्र्यात् उपाश्नुते । तत्-
दर्शनं मोक्षमार्गं कर्णधारं प्रचक्षते ।

निरुक्ति-ज्ञानं च चारित्र्यं च अन्वयो समाहारः ज्ञानचारि-
त्रम् तस्मात् । साधो भावः साधिमा तम् साधिमानम् ॥ मोक्षस्य

१-अशूड व्याप्ती इति श्रुति विवरणस्य उप पूर्वस्य धे धो-
लटिरूपम् । २ प्रपूज्य प्रशूड व्यक्ताया वाचि धो लटि अन्यपुरुषस्य
च शुभचने देवत '५।१।१ इति ऋस्य अद् । प्रचक्षते कथयन्ति ।
द्वि कर्मकटयम् । ३- 'पृजादेर्वेमन्' । ३।३।१३६ इति भाष्ये इमन् त्व ।
"कालाध्य भाव देश याऽकर्म धीनाम्" १।२।१४४ इति भाष्य-
५।२ कर्मसहा पुनः "कर्मणीष्" १।४।१ इति इप् विभक्ती ।
ज्ञावत् साधुतायाव्याप्नोति दर्शनमित्यर्थः ।

मार्ग मोक्षमार्गं तस्मिन् । वरणात् (जमाधारणकारण) परति
पोरपति इति कर्णधार तम् कर्णधारम् ॥

अथ--सम्यग्दर्शन साधुतामें सधीचीनतामें ज्ञान
चारित्रसे पहिले ही व्याप्त हो जाता है । इसीसे उस सम्य
ग्दर्शनको आचार्य मोक्षमार्गमें कर्णधार कहते हैं ॥३१॥

ननु चारयोत्कृष्टत्वे सिद्धे कर्णधारत्व सिद्धयति तच्च
कुठ सिद्धमित्याह —

सम्यग्दर्शनके उत्कृष्ट होनेपर वह कर्णधार हो सकता है
इसलिये उसमें उत्कृष्टता बताते हैं ।

विद्यावृत्तस्य सभूति स्थितिवृद्धिफलोदया ।
न सन्त्यसतिसम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥३२॥

‘सम्यक्त्वेऽसति’ अविद्यमाने । ‘न सति’ । के ते ? समूति
स्थितिवृद्धिफलोदया । कस्य ? विद्यावृत्तस्य । अयमर्थ — विद्याया
मतिज्ञानादिरूपाया वृत्तस्य च सागापिनादिचारित्रस्य या सभूति
प्रादुर्भाव , स्थितिर्यथावत्पदार्थपरिच्छेदकत्वेन कर्मनिर्जरादिहेतुत्वेन
चावस्थान, वृद्धिरुत्पन्नस्य परतर उत्कृष्ट । फलोदयो देवादिपूजाया
सर्गापवर्गादिश्च फलस्योत्पत्ति । कस्याभावे कस्येव ते न स्युरि-
त्याह-बीजाभावे तरोरिव बीजस्य मूलकारणस्याभावे यथा तरो

१-अत्र वरण पदे रफाराप्र वर्तिन अकारण्य म् निवातनात् ।
वत्राणि द्विनाया । ०’

स्ये न सन्ति तथा सम्यक्त्वस्यापि मूलकारणभूतस्याभावे विद्यावृत्त
स्यापि ते न सतीति ॥ ३२ ॥

अन्वय — यथा बीजाभावे तरो समूति स्थिति वृद्धि फलोदया
न सति तथा सम्यक्त्वे असति विद्यावृत्तस्य समूति स्थिति वृद्धि फलो
दया न सति ॥

निरुक्ति — विद्या च वृत्त च धनयो समाहार विद्यावृत्त
तस्य । समूतिश्च स्थितिश्च वृद्धिश्च फलोदयश्च इति समूति स्थिति-
वृद्धि फलोदया । न सन् इति अमन् तस्मिन् असति । बीजस्य
अभाव बीजाभावे तस्मिन् ।

अर्थ — जिस प्रकार बीजका अभाव होनेपर वृक्षकी
उत्पत्ति स्थिति बढ़ना तथा फलका प्राप्त होना नहीं होता
उसी प्रकार सम्यक्त्वके न होनेपर ज्ञान और चारित्रकी
उत्पत्ति स्थिति वृद्धि तथा फलकी प्राप्ति नहीं होती ॥ ३२ ॥

यतश्च सम्यग्दर्शनसम्पन्नो गृहस्थोऽपि तदसम्पन्ना-
न्मुनेरुत्कृष्टस्ततोऽपि सम्यग्दर्शनमेवोत्कृष्टमित्याह —

सम्यग्दर्शन नहीं है और गृहस्थागी हैं तो भी वे उत्तम नहीं
हैं “इसलिये सम्यग्दर्शन प्रधान है” ऐसा बताते हैं ।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो, निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान्, निर्मोहो मोहिनो मुने ॥

‘निर्मोहो’ दर्शनप्रनिबन्धकमोहनीयकर्मरहितः सदृशनपरिणत
ः अर्थः । इत्य भूतो गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो भवेति

पुन 'नैव' मोक्षमार्गस्यो नहि भवति । किं विशिष्ट ? 'मोहवान्'
दर्शनमोहोपेत । मिथ्यात्वपरिणत इत्यर्थ । यत एव ततो
गृहस्थो यो निर्मोह स 'श्रेयान्' उत्कृष्ट । कस्मात् ? मुने ।
कथभूतात् ? 'मोहिनो' दर्शनमोहयुक्तात् ॥ ३३ ॥

अन्वयः—निर्मोहो गृहस्थः मोक्षमार्गस्य भवति, मोहवान्
अनगारः मोक्षमार्गस्य नैव भवति, अतः मोहिनो मुने निर्मोहो गृही
श्रेयान् ॥

निरुक्ति — गृहे तिष्ठति इति गृहस्थ । मोक्षस्य मार्गः
इति मोक्षमार्गः । तस्मिन् तिष्ठति इति मोक्षमार्गस्य । निर्गत मोहो
यस्यासौ निर्मोह । मोहो विद्यते यस्यासौ मोहवान् । नास्ति त्यक्त
अगर यस्य येन वा अनगार । गृह विद्यते यस्यासौ गृही ।
अतिशयेन प्रशस्य इति श्रेयान् श्रेष्ठ । मनुते जानाति इति मुनिः ।

अर्थ—निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्गमे है, किन्तु मिथ्या
त्वी साधु मोक्षमार्गमें नहीं है । इसलिये मिथ्यात्वी साधुसे
निर्मोही (सम्यग्दृष्ट) गृहस्थ श्रेष्ठ है ॥ ३३ ॥

यत एव तत —

इसलिये सम्यग्दर्शन सर्वत्र सर्वदा हितकारी ही है और
मिथ्यात्व दुःखदायी है ऐसा बताते हैं ।

१—अत्र दश 'मोहनीय मिथ्यात्वादित्रितय मोहपदेन गृह्यते ।
'ममोङ्क ऋषो मतोर्वाऽपवादिभ्यः' ७।३।४६ इति मस्य घकार ।

२—"गुणाङ्गाष्टौष्यस्" ४।१।१६३ । पुन "प्रशस्यस्य श्रः"
४।१।१६४ । आभ्याम इयस्—प्रादेशश्च ।

न सम्यक्त्वसमं, किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्व समं नान्यत्तनूभृताम् ॥

‘तनूभृता’ सप्तारिणां । ‘सम्यक्त्वसम’ सम्यक्त्वेन सम तुल्य ।
‘श्रेय’ श्रेयमुत्तमोपकारक । ‘किञ्चित्’ अन्यवस्तु नास्ति । यतस्त
स्मिन् सति गृहस्थोऽपि यतेरप्युत्कृष्टतां प्रतिपद्यते । कदा तत्रास्ति
‘त्रैकाल्ये’ अनीतानागतवतमानकालत्रये । तस्मिन् क तत्रास्ति ।
‘त्रिजगत्यपि’ आस्तां तानत्रियतक्षेत्रादौ तत्रास्ति अपि तु त्रिजगत्यपि
न्निमुक्त्वेऽपि तथा ‘अश्रेयो’ अनुपकारक । मिथ्यात्वसम किञ्चिदय-
शास्ति । यतस्तत्सद्भावे यतिरपि व्रतसयमसम्पन्नो गृहस्थादपि तद्धि-
षरीतता तदपवृष्टतः व्रजतीति ॥ ३४ ॥

अन्वय - तनूभृतां सम्यक्त्वसम त्रैकाल्ये अपि त्रिजगति
अयन् किञ्चित् श्रेय न । अथ तनूभृता मिथ्यात्वसम त्रैकाल्ये अपि
त्रिजगति अयत् किञ्चित् अश्रेयो न ॥

निरुक्ति-सम्यक्त्वेन सम सम्यक्त्वसम । प्रयश्च काला त्रि-
काला त्रिकाला एव त्रैकाल्य तस्मिन् । प्रयाणां जगतां समाहार
त्रिजगत् तस्मिन् । अतिशयेन प्रशस्य इति श्रेय । तनू विभ्रति
इति तनूभृता तेषाम् ॥

(१) भेरजादिभ्यष्टयण् ४।२।२८ इति स्वार्थं ट्यण ।

२-कायो देह कीयपुसां श्रिया मूर्तिरतनुभृताम् । इत्यमरे
दीर्घ ऊकारान्तोपि तनू शब्द । भृत् भरणे इति धो ङिप् । पिति
ति तुक् । ४।३।६७ इति तुगागमश्च । शरीरधारिण ।

अर्ध शरीरभारियोंको सम्यक्त्वके समान तीनों काल-
में और तीनों लोकोंमें अन्य कोई भी सुखकारक नहीं है ।
तथा प्राणियोंको मिथ्यात्वके समान तीनों कालोंमें और तीनों
लोकोंमें दुखदेनेवाला दूमरा कोई भी नहीं है ॥ ३४ ॥

इतोपि सद्वर्णनमेव ज्ञानचारित्र्याभ्यामुत्कृष्टमित्याह—

सम्यग्दर्श हो जानेपर जीव नारकत्व आदि कर्मोंका बन्ध नहीं
करता इससे भी यह उत्तम है, ऐसा प्रताते हैं—

आर्याऽद. ॥

सम्यग्दर्शनशुद्धा, नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि।
दुष्कुलविकृताल्पायु, दरिद्रता च व्रजन्ति नाप्य-
व्रतिका ॥ ३५ ॥

‘सम्यग्दर्शनशुद्धा’ सम्यग्दर्शन शुद्ध निर्मल येषां ते । सम्य-
ग्दर्शनलामात्पूर्वं बद्धायुष्कान् विहाय अथ ये ‘न व्रजन्ति’ न प्राप्नु-
वन्ति । कानि । नारकतिर्यङ्गनपुंसस्त्रीत्वानि वशब्द प्रत्येकमभि-
सम्बध्यते नारकत्व निर्वक्तव्यं नपुंसस्त्रीत्वमिति । न केवञ्चमेतां येन
न व्रजन्ति किंतु ‘दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रता च’ अत्रापि ताशब्द-
प्रत्येकमभिसम्बध्यते ये निर्मलसम्यक्त्वात् ते न मया तरे “दुष्कुलता”
दुष्कुले उत्पत्तिं विकृतता काणबुष्ठादिरूपविकारम् अल्पायुष्कताम्,
मत्तमुर्द्धर्वायायुष्मोपत्तिं, दरिद्रतां दारिद्र्योपेनजुलोत्पत्तिम् । कथंभूता
अपि पतत्सर्वं न व्रजन्ति ‘अव्रतिका अपि’ अणुव्रतरहिता अपि ।

अन्वय - अव्रतिका अपि सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्गनपु-

सक स्त्रीणां च दुष्कृतविहृताभ्यामु दरिद्रतां न व्रजन्ति ॥ ३५ ॥

निरक्ति - सम्यग्दर्शनेन शुद्धा सम्यग्दर्शनशुद्धा अथवा सम्यग्दर्शन शुद्ध येषां ते सम्यग्दर्शनशुद्धा । नारकश्च तिर्यङ् है च नपुमक च स्त्री च इति नारकतिर्यङ् नपुसकस्त्रिय , तेषां भावा इति नारकतिर्यङ् नपुमकस्त्रीत्वानि । दुष्ट च यत् कुल दुष्फल । अल्प आयुस्य स अग्यायु । दुष्पुत्रश्च विहृतश्च अल्पायुश्च दरिद्रश्च इति दुष्कृतविहृताभ्यामुदरिद्रा । तेषां भाव दुष्कृतविहृतभ्यामुदरिद्रता । ता । न सन्ति व्रतानि येषां ते अत्रनिमा, । न सन्ति व्रतानि इति अत्रनिमा वा । व्रतानिस्तु सातिशय पुण्य बध्मन्ति ।

अर्थ — जो प्रती नहीं है और सम्यग् दर्शन करके शुद्ध हैं (महित हैं) वे नरकगतिको, तिर्यङ् गतिको, नपुसकपनेको स्त्रीपनेको, दुष्कृतको, रोगको, अल्पायुको और दरिद्रता को नहीं प्राप्त होते हैं और न इनका बन्ध करते हैं । यद्यतेत्तत्र न व्रजन्ति तर्हि भवात्तरे क्रीटशास्त्रे भवन्तीत्याह-

सम्यग्गृष्टि नारकादि पर्यायोंको न राधता है न पाता है तो वैसी पर्यायोंको पाता है । इसका उत्तर प्रताने हैं-

ओजस्तेजोविद्या

वै र्द्यशोत्राद्भिविजयविभ्रमनाथा ।

१-नाम्नि २-सुख यत्र स नरक 'शेषाहा' भा३।१६४ इति कप् । नरके घर्मादी जात इति नारक "तत्र जात" भा३।१ इत्यण ३-तिरो अञ्जतीति तिर्यक् । "तिरस तिर्यो" भा३।१५६ इति तिरम् शब्दस्य तिरि आदेश ।

माहाकुला महार्था मानवतिलका भवन्ति दर्शनपूताः ॥३६॥

‘दर्शनपूता’ दर्शनेन पूता. परित्रिता दर्शन वा पूत परित्र
येषां ते भवति ‘मानवतिलका’ मानवानां मनुष्याणां तिलका मण्ड-
नीभूता मनुष्यप्रधाना इत्यर्थः । पुनरपि कथभूता इत्याह ‘श्लो-
ज’ इत्यादि श्लो-ज उत्साह, तेज प्रताप कातिर्मा, विद्या सहजा
आहार्या च बुद्धिः, गीर्ष निशिष्ट सामर्थ्यं, यशो निशिष्टा रयाति.,
वृद्धि कलत्रपौत्रादिसम्पत्ति, विजय परविभवेनात्मनो गुणोत्कर्ष,
विभवो धनधा-यद्रव्यादिसम्पत्ति, एते [सनाथा सहिता । तथा
‘माहाकुला’ महच्च कुलं च तत्र भवाः । महार्था’ महातोऽर्था
धर्मार्थकाममोक्षलक्षणा येषाम् ॥ ३६ ॥

अन्वय — दर्शनपूता मानवतिलका भवति । कथभूता
मानवतिलका । श्लो-जस्तेजो विद्या धीर्य यशोवृद्धि विजय विभवस-
नाथा, पुन माहाकुला, पुनरपि महार्था ॥

निरुक्ति.—श्लो-जश्च तेजश्च विद्या च धीर्यश्च यशश्च वृद्धिरश्च
विजयश्च विभवश्च इति श्लो-जस्तेजो विद्या धीर्ययशो वृद्धि विजय विभव-
तेषां सनाथा इति श्लो-जस्तेजो विद्या धीर्ययशो वृद्धि विजय विभव-

श्लो-जश्च तेजश्च विद्या च धीर्यश्च यशश्चेति श्लो-जस्तेजो
विद्या धीर्य यशसि । तेषां वृद्धिरिति श्लो-जस्तेजोविद्याधीर्ययशो
। सा च विजयश्च विभवश्चेति श्लो-जस्तेजोविद्या-
। तेषां सनाथाः सनाथिताः इति ।

सनाया । महद्य य कुस महाकुल तत्र भवा , वा महत् कुल यस्य स
महाकुल तस्य अपत्यानि माहाकुला । महात् अर्था येषां ते
महार्था, श्रेष्ठा मानवा मानातिसकौ । दर्शनेन पूता ते दर्शनपूता ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे पवित्र ऐव प्राणी (मर कर)
मनुष्योंमें तिलकके समान श्रेष्ठ (राजा) होते हैं । जोकि
ओजस्वी (साहसी) तेजस्वी विद्वान् बलवान् यशस्वी
(कीर्तिमान्) पुत्र पौत्रशाले विनयी धनवान् तथा
वत्तम कुलमे होता है जन्म जिनका और चारों पुरुषार्थोंके
साधक ऐसे होते हैं ॥३६॥

तथाइन्द्रपदमपि सम्यग्दर्शनशुद्धा एव प्राप्नुवन्तीत्याह—
तथा देवेन्द्र पद को सम्यग्दर्शने ही पाता है, ऐसा बनाते हैं ।

अष्टगुणपुष्टितुष्टा, दृष्टिविगिष्टा प्रकृष्टशोभाजुष्टाः।
अमराप्परमां परिपदि, चिर रमन्ते जिनेन्द्रभक्ता-
स्वर्गे ॥ ३७ ॥

देवदेवीनां सभायाम् । 'चिर' बहुतर काल । 'रमन्ते'
क्रीडति । वषभूता ' 'अष्टगुणपुष्टितुष्टा ' अष्टगुणा अग्निमा,
महिमा, सधिमा, प्राप्ति , प्राणाम्यम्, इशित्य, वशित्य यत्नमरूपित्य-

२-भक्त महाकुलादम्बुस्र ३।१।१६। इति अम्बुस्य । हृत्प-
क्ष्वादे ७।२।१ इति आनुयाङ्कारस्य षेप् । महाकुला इति पाठे तु
एकादशमात्रावरयाच छ-दोदोष (गाथा छ-दोषे प्रथम और द्वितीय
पादमे शारद ही मात्रा होता है ।) ३ प्रशसोक्त्या । १।३।५६ इति पस्य

मित्येतन्नक्षणास्ते च पुष्टि स्वशरीरावयवानां सर्वदोषचितत्व तेषां वा
पुष्टि परिपूर्णत्व तथा तुष्टा सर्वा प्रमुदिताः । तथा 'प्रकृष्टशोभा
जुष्टा' इतरदेवेभ्यः प्रकृष्टा उत्तमा शोभा तथा जुष्टा सेविता सेवा
जुष्टा सेविता इन्द्राः सत इत्यर्थ ॥ ३७ ॥

अन्यथ - जिनेन्द्रभक्ता स्वर्गे अमराप्सरसां परिपदि अष्टगुण
पुष्टितुष्टा, स तथ प्रकृष्ट शोभाजुष्टा सत चिरं रमते । कथभूता
जिनेन्द्रभक्ता । दृष्टिनिशिष्टा ।

निरुक्तिः--जयन्ति कर्मशत्रून् इति जिनाः । जिनेषु इन्द्र
जिनेन्द्रा । वा जिनाना इन्द्रा जिनेन्द्रा । जिनेन्द्राणां भक्ता इति
जिनेन्द्रभक्ता । अमराश्च अप्सराश्च अमराप्सरस तेषाम् अष्ट-
गुणानां पुष्टि इति अष्टगुणपुष्टि । तथा तुष्टा इति अष्टगुणपु-
ष्टितुष्टा । प्रकृष्टा चासौ शोभा च इति प्रकृष्टशोभा । प्रकृष्टशोभया
जुष्टा ते प्रकृष्टशोभाजुष्टा । दृष्ट्वा निशिष्टा ते दृष्टिनिशिष्टा ।

अर्थ-कर्मरूपी शत्रुको जीतकर जो सम्यक्त्वादि गुणों-
पर सहित हो सो जिन, तिनमें इन्द्र श्रेष्ठ हो सो जिनेन्द्र
तिनकी भक्ति सेवा पूना करनेवाले स्वर्गम देवोंकी तथा
देवागनार्जुकी सभामें आठ गुणों (जो कि अणिमा महिमा
गरिमा लघिमा प्राक्राम्य प्राप्ति ईशित्व चशित्व कामरूपित्व)
की पुष्टि (शरीरका सतत एकमा रहना)से प्रमुदित होते हुवे
और प्रकृष्ट है शोभा तिनकी ऐसे होते हुवे बहुत काल तक
रमण (आनन्द) करते हैं । कैसे हैं वे जिनेन्द्रभक्त जोकि
सम्यग्दर्शनसे सहित हैं ।

तथा चक्रवर्तिचमपि त एव प्राप्नुवन्तीत्याह—
तथा सम्यग्दृष्टि ही चक्रवर्ती पदको पाता है, ऐसा आचार्य कहते हैं—

नवनिधिसप्तद्वय

त्नाधीशा सर्वभूमिपतयश्चक्रम् ।

वर्त्तयितु प्रभवन्ति,

स्पष्टदृश क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥ ३८ ॥

ये 'स्पष्टदृशो' निर्मलसम्यक्चा' त एव 'चक्र' चक्रस्य रत्न
'वर्त्तयितु' आत्माधीनतया तत्साध्यनिखिलकार्येषु प्रवर्त्तयितु 'प्रभ
वति' ते समर्था भवति । कथमुना ? सर्वभूमिपतय सर्वा चासी
भूमिरच पङ्खण्डपृष्ठी तस्या पतय चक्रवर्तिन । पुनरपि कथ-
भूता, ? 'नवनिधिसप्तद्वयत्नाधीशा' नवनिधयश्च सप्तद्वयज्ञानि
सप्तानां द्वय तेन सङ्घटानानि रत्नानि चतुर्दश तेषामधीशा स्वामिन ।
'क्षत्रमौलिशेखरचरणा क्षतादोषात् श्रयन्ते रक्षति प्राणिनो ये ते
क्षत्रा राजानस्तेषां मीलयो मुकुटा तेषु आपाठा शेखरा तानि
चरणेषु येषाम् ॥ ३८ ॥

अन्वयः स्पष्टदृशः सर्वभूमिपतय सप्तः चक्र वर्त्तयितु
प्रभवति । कथमुना ? सर्वभूमिपतय नवनिधिसप्तद्वयत्नाधीशा ।
पुन, सर्वभूमिपतय । पुनरपि क्षत्रमौलिशेखरचरणाः ॥

निरुक्ति स्पष्टा दृशः येषां ते स्पष्टदृश, सवा चासी
सर्वभूमिः । सर्वभूम्या पतय इति सर्वभूमिपतय । स्प
इति सप्तद्वयानि । सप्तद्वयानि च यानि रत्नानि इतिरक्ष इति यः ।

अर्थ—सम्यग्दर्शनसे भूषित जीव धर्मचक्रके चलाने-
वाले तीर्थरूढ होते हैं, कैसे हैं वे वृषचक्रधर? जो कि देवोंके
इन्द्र उनसे, मनुष्योंके पति चक्रवर्ति उनसे, तथा मयन व्यंत्तर
ज्योतिष्क देवोंके इन्द्रोंसे पूजे जाते हैं चरण जिनके ऐसे,
तथा लोकोंको शरण भूत हैं (भव्यलोकोंको मसारके दु खोंसे
पार कराने वाले हैं) ॥ ३९ ॥

तथा मोक्षप्राप्तिगपि सम्यग्दर्शनशुद्धानामेव भवतीत्याह -
तथा पूर्ण सम्यक्त्व होनेपर ही निर्वाणपद प्राप्त होता है ऐसा बताते हैं-

शिव भजर मरुज मक्षय-
मव्यावाध विशोकभयशङ्कम् ।
काष्ठागतसुखविद्या-

विभव विमल भजन्ति दर्शनशरणाः ॥४०॥

‘दर्शनशरणा’ दर्शन शरण समाराधायपरिरक्षक येषा दर्श
नस्य वा शरण रक्षण यत्र ते ‘शिव’ मोक्ष मत्त्वानुभवति ।
कथम् ‘भजर’ न विद्यते जग वृद्धय यत्र । श्रुजम् न विद्यते
रुक् रुजा व्याविर्यत्र । ‘मक्षय’ न विद्यते ल धान तच्चलुष्टयक्षयो
यत्र । ‘अव्यावाध’ न विद्यते दु खरूपेण तेनचिद्विधा विशेषे-
ण वा व्यावाधा यत्र । ‘विशोकभयशङ्क’ विगता शोकभयशङ्का
यत्र । ‘काष्ठागतसुखविद्याविभव’ काष्ठा परमप्रसन्नं गतं प्राप्तं सुख
विभूतिपत्रं । ‘विमल’ विगत मनः प्रभावरूपकर्म यत्र ।

अन्वय दर्शनशरणा शिव भजति । कृपभूत शिव १ धनर
अरुजम् अक्षयम् अव्याघार विशोकभयशङ्कम् । काष्ठागत-
सुखविद्याविभवम् पुन विमलम् ॥

निरुक्ति - दर्शन शरण येषां ते दर्शनशरणा । नास्ति जरा
यस्मिन् स अजर तम् । नास्ति रुजा यस्मिन् स अरुज तम् ।
नास्ति क्षयः यस्मिन् स, अक्षय तम् । नास्ति व्याघ्राघा यस्मिन् स
अव्याघाथ तम् । शोभदैव भयश्च शङ्का च इति शोकभयशङ्काः,
विगता शोभभयशङ्का यस्माद् यस्मिन् वा स विशोभभयशङ्क तम् ।
सुख च विद्या च सुखविद्य । सुखविद्ययो विभव इति सुखविद्या
विभव । काष्ठागत सुखविद्याविभव यस्मिन् स, काष्ठागतसुख
विद्याविभव, तम् । विगत मल यस्मिन् वा यस्मात् स विमल ।

अथ-सम्यग्दर्शनका शरण निन्दोने लिया है ऐसे
सम्यक्ती जीव मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं । कौसा है वह मोक्ष ?
जिसमें बुढ़ापा नहीं, रोग नहीं, क्षय नहीं है, जिसमें शोक,
भय शंका नहीं है, सीमाक अतमे पहुँच गया है सुख और
ज्ञान का ऐश्वर्य जिसमें, और जिसमें किसी प्रकारका भी
मल (दोष) नहीं है ४०॥

यत्प्रारू प्रत्येक श्लोकै सम्यग्दर्शनस्य फलमुक्त तद्-
दर्शनाधिकारस्य समाप्ता सग्रहवृत्तेनोपमहृत्य प्रतिपादयन्नाह-
सम्यग्दर्शनका फल इन चारों परमस्थानकी प्राप्ति है. ऐसा
बताते हुवे इस सम्यग्दर्शनाधिकारको पूर्ण करते हैं ।

१-शुच शोके धो घृन्न-न्यूनादीनाम् पारा६६ अनेन

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमानम्
 राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।
 धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोकम्
 लब्ध्वा शिव च जिनभक्तिरुपैति भव्यः ४१

‘शिव’ मोक्षम् ‘उपैति’ प्रप्नोति । कोऽसौ ? ‘मय’ सम्बन्धेऽपि ।
 कथम् ? ‘जिनभक्ति’ जिने भक्तिवत्य । किं कृत्वा ? लब्ध्वा ।
 कः ? ‘देवेन्द्रचक्रमहिमानम्’ देवानामिन्द्रा देवेन्द्रास्तेषां चक्रं सवा-
 तस्तत्र तस्य वा महिमानं निभूतिनाहात्म्यम् । कथम् ? ‘अमेय-
 मानम्’ अमेयम् अपर्यन्तं मानमस्यामेयमानं (पूजानानं) वा यस्य ।
 तथा ‘राजेन्द्रचक्रं लब्ध्वा’ राज्ञामिन्द्राश्चन्द्रार्तिनस्तेषां चक्रं चक्रं
 रत्नम् । किं विशिष्टं ? ‘अवनीन्द्रशिरोर्चनीयम्’ अथ यां विजनिज-
 पृथिव्याम् इन्द्रा मुमुक्षुर्वा राजानस्तेषां शिरोभिर्चनीयम् । तथा
 धर्मेन्द्रचक्रं कृत्वा धर्मस्योत्तमक्षमादिलक्षणस्य चारित्र्यलक्षणस्य
 वा इन्द्रा अनुष्ठितारं प्रणेतारो वा तीर्थरगदयस्तेषां चक्रं सवातो
 धर्मिणां वा तीर्थकृता सूचकं चक्रं धर्मचक्रम् । कथम् ?
 ‘अधरीकृतसर्वलोकम्’ अधरीकृतं भृत्यता नीतं सर्वलोकं विभुवन-
 येन । एतत्सर्वं लब्ध्वा पश्चाच्छिव उच्यते भव्य इति ॥ ४१ ॥

इति मन्त्राचार्यविरचिताया समन्तभद्रस्वामिविरचितो
 पासकाध्ययनटीकाया प्रथम परिच्छेदः ॥ १ ॥



अन्य - जिनभक्तिभव्य शिवम् उपैति । किं कृत्वा,
अमेयमानम् देवेन्द्रचक्रमहिमान लब्ध्वा । पुनः किं कृत्वा, अवनी-
न्द्रशिरोर्धनीयम् राजेन्द्रचक्र लब्ध्वा । पुनः किं कृत्वा, अधरीकृत-
सर्वलोकम् धर्मेन्द्रचक्र लब्ध्वा ।

निरुक्ति — जिने भक्ति यस्य स जिनभक्ति । मवितु योग्य
स भव्य । देवेद्राणा चक्रम् देवेन्द्रचक्र, देवेन्द्रचक्रस्य महिमा
इति देवेन्द्रचक्रमहिमा, तम् । नास्ति मेय मानम् यस्य स, तम् ।
राजेद्राणां चक्र राजेन्द्रचक्रम् । अवनीनाम् इन्द्रा ते अवनाद्रा ।
अवनाद्राणां शिरोसि इति अवनीन्द्रशिरोसि । अवनीन्द्रशिरोमि
अर्धनीय इति अवनीन्द्रशिरोचनायः तम् । धर्मेन्द्रस्य चक्र धर्मे
न्द्रचक्रं तम् । अनधर श्रवरः क्रियतेस्मेति अधरीकृतम् । अधरीकृतः
सर्वो लोकः येन सः अधरीकृतसर्वलोकः, तम् ॥

अर्थ—जिने द्रु भगवानकी जो भव्यजीव भक्ति करता
है वह मोक्षको पहुच जाता है । क्या करिके ? अमर्यादित
देवीके इन्द्रोकी विभूतिको भोग करके । और किस
विधिसे मोक्षको प्राप्त करता है विद्याधर भूमिगोचरी और
म्लेच्छ परदोंके सब भूपतियोंके मस्तक नभ्रीभूत हो रहे हैं
चरणोंमें तिसके, ऐसे चक्रवर्ती पदवीको भोगकर । और क्या
करके मोक्षको प्राप्त करता है ? नभ्रीभूत पर दिये हैं समस्त
लोक जिसने ऐसे तीर्थपर पदको प्राप्त करके ।



इति धोसमतभद्रस्यामिरचिते ग्ग्वकरणद्वयानि उपामक्याः
गौरीलालसिद्धातशास्त्रिणा निरुक्ताया

सभ्याः शर्मावर्णको नाम सभ्याः सभ्याः

ज्ञानाधिकारो द्वितीयः ।

अथ दर्शनरूपं त्रयं व्याख्याय ज्ञानरूपं तं व्याख्यातुमाह—
सम्पन्नानका लक्षणं वहत ह्ये ।

अन्यूनमनतिरिक्त, याथातथ्यं विना च विपरीतात्
निःसन्देहं वेदं यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

‘वेद’ वेत्ति । ‘यत्तशङ्करुने । ‘ज्ञान’ ‘भावधुरनरूप’ । के
ते १ ‘आगमिनः’ आगमज्ञा । कः वेद ? ‘निःसन्देह’ निःसंशय
यथा भवति तथा । ‘विना च विपरीतात्’ विपरीताद्विपर्ययद्विनैव
विपर्ययपरत्वेदनेत्यथ । तथा ‘अन्यून’ परिपूर्णं सकलवस्तु-
स्वरूपं यद्वद ‘तदज्ञान’ न यूनं विचलतस्वरूपं यद्वद, तर्हि जीवा
दिनस्तुस्वरूपेऽविद्यमानमपि स तथा नित्यत्वक्षयित्वादितादिरूप
कल्पयित्वा यद्वत्ति तदधिकारिणैर्दिता ज्ञानं भविष्यतीत्यत्राह—‘अन-
तिरिक्त’ वस्तुस्वरूपादनतिरिक्तमनपिक्रमं यद्वद तज्ज्ञानं न पुनस्तद्व-
त्स्वरूपादधिकं कल्पनाशिलिकल्पितं यद्वद । एव चैतद्विरोधणचतु-
ष्टयसामर्थ्याद्यथाभूतार्थवेदकत्वं तस्य सम्भवति तददर्शयति—याथातथ्यं
यथावत्स्थितवस्तुस्वरूपं यद्वद तदज्ञानं भावधुरतम् । तदूपस्थैः ज्ञानस्य

१—तस्य मन्वन्तस्य चत्वारो भेदाः । प्रथमानुयोग १ करणानु-
योग २ चरणानुयोग ३ द्रव्यानुयोगश्च ४ तान् क्रमेण श्लक्षयति
इत्यामनः । अथ शब्दे ज्ञानस्य न्ये ष्य भेदाः स्वीकृता न तु-

जीवाद्यशेषार्थानामशेषविशेषतः केवलज्ञानवत् सावक्ष्येन स्वरूप-
प्रकाशनसमर्थसम्भवात् । तदुक्तम्—(शास्त्रमीमांसयां)

स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्वतत्त्वप्रकाशने ।

भेदः साक्षाद्माक्षि, ह्यस्त्वन्यतम भवेत् ॥ १ ॥ इति
अतस्तदेव प्ररर्त्वेनाभिप्रेतम् । तस्यैव मुदयतो मूढकारणभूततया
स्वर्गापवर्गसाधनसामर्थ्यसम्भवात् ॥ १ ॥

अथ तत् आगमिन ज्ञान आहुं, किं तत् यत् अयूनम्
अनतिरिक्त विपरीतत् विना, नि सदेह च यायातथ्य वेदे ॥

निरुक्ति — आगमा विद्यते तेषु ते आगमिन । नास्ति यून
यस्मिन् तत् अयूनम् । न अनतिरिक्त यस्मिन् तत अनतिरिक्तम् ।
तथा अनतिक्रम्य वर्तने इति यथा तथम् । यथातथम् इत्यस्य भावः
इति याथातथ्यम् । निर्गतः सदेहो यस्मात् तत् ति सदेहम् ॥

१-ग्रन्थो "ग्रन्थ आहश्च २।३।७० जनन आहादेशः । लये
भेदश्च उसादेश । आहुं ग्रन्थति कथयन्तीत्यर्थः । २-वेद इति
विद्वाने धो लटि रूपम् । 'विद्वो लटो वा' २।४।७१ इति
णश्चो वेत्ति जानातोत्यथा ३-आगम श्रुतज्ञानमस्ति येषां ते तथा
"मन्वात् खी" ४।१।८६ इति इन् । गणधरा इत्यर्थः । तथा
"अतोऽनेनाच" ४।१।७६ इति च इन् । धानिन आगमोपघातार
शास्त्वार इति यावत् । ४-यो न न्यूनः अव्याप्त स अन्यून ।
"नञ्" १।३।६५ इति स । "नञोऽन्" १।३।२४१ इति नस्य
अकारादेशः । ५-न अनतिरिक्त अधिक इति अनतिरिक्त । अचि
४।३।१४२ इति अनादेश अतिव्याप्तिरहितः ।

अर्थ—उस जाननेको सर्वज्ञ और गणधर देव ज्ञान कहते हैं। कौनसा वह ज्ञान है जो न न्यून हो, न अधिक हो, न विपरीत हो, सदहसे रहित हो, और यथार्थ स्वरूप हो ॥ ४२ ॥

तस्य त्रिपयमेदाद् भेद प्ररूपयन्नाह—
प्रथमानुयोगका लक्षण कहते हैं ।

**प्रथानुयोगमर्था रूयानं चरितं पुराणमपि पुण्यम् ।
बोधिसमाधिनिधान, बोधति बोधः समीचीनः ॥**

‘बोधः समीचीन’ सत्यं तुतज्ञान । ‘बोधति’ जानाति ।
कः प्रथमानुयोग । किं पुनः प्रथमानुयोगाच्चेनाभिधीयते इत्याह—
‘चरितं पुराणमपि एतदुभयपत्रिता कथा चरितं त्रिपष्टिशताशु-
पाश्रिता कथा पुराण तदुभयमपि प्रथमानुयोगशब्दाभिधेयम् ।
तस्य प्रकल्पितः प्रथमच्छेदार्थमर्थानुयानमिति विशेषण, अर्थस्य
परमार्थस्य त्रिपयस्याख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा त । तथा पुण्यं
प्रथमानुयोगं हि श्रृण्वतां पुण्यमुत्पद्यते इति पुण्यहेतुत्वात्पुण्यं तद-
नुयोगः । तथा ‘बोधिसमाधिनिधानं’ अत्राप्तानां हि सम्यग्दर्शना-
दीनां प्राप्तिर्बोधिः प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः ध्यानं वा
धर्म्यशुक्तं च समाधिः । तयोर्निधानं तदनुयोगं हि श्रृण्वतां सदृश-
भावे प्राप्त्यादिकं धर्मध्यानादिकं च भवति । तथा—

अह उह तिरिय लोऽ दिसि त्रिदिस ज पमाखिय भणिय ।
करणाण्यिओय सिद्ध, दीयसमुदा जिणे गेहा ॥ १ ॥

अन्वयः — समीचीन, बोधः चारतम् अपि पुराण प्रथमानु-
योग बोधनि। कथभूत चरितः कथभूत पुराणम् अर्थख्या-
नम्। पुन पुण्यम्। पुनरपि, बोधिसमाधिनिधानम्, अथवा, यः समी-
चीन बोध चरित अपि पुराण बोधति त प्रथमानुयोग कथयति।
शेष पूर्ववत् ॥

निष्क्ति — प्रथमो मुहुरदचामी अनुयोग इति प्रथमानुयोग,
तम्। धर्मानाम् ध्यान यत्र तन् धर्माख्यानम्। बोधश्च समा-
धिश्च इति बोधिसनाथा। तथो निधानम् इति बोधिसमाधिनिधानम्।

अर्थ—मम्यज्ञान, चरित्रोंको और पुराणोंको प्रथमा-
नुयोग जाने है। कैसे हैं चरित्र और पुराण ? चारों पुरुषार्थों
का हैं आख्यान जिनमें। और कैसे हैं वे दोनों ? पुण्य
रूप हैं तथा पुण्यका कारण हैं बोधि और समाधिकी खानि
हैं। अथवा जो उच्चम ज्ञान चरित्रोंको पुराणशास्त्रोंको
जानता है उस भाव ज्ञानको आचार्य प्रथमानुयोग कहते हैं।

१-सम्पुष्प अथ घो विष्णु "नसह्यदा समिसधो
धाशर ७ अथ स गे" ममि आदेश सम्पुष्पका इति समी-
चान। "वाञ्छोऽदिक स्त्रियाम्" धाशर ६ इति नस्य। तस्य च
इन आदेश। २-धर्म पुरुषार्थ अथ पुरुषार्थ। काम पुरुषार्थ और
मोक्ष पुरुषार्थ इनका और इनके करनेवाले पुरुषार्थका धर्म-
इतिहासका ध्यान। ३-बोधागरिण, अनुमत्तचरित्र श्रेणिक
चरित आदिक चरित्र हैं ४-महापुराण आदिपुराण अथपुराण
॥

अत्र करणानुयोगका लक्षणं वताते हैं ।

**लोकालोकविभक्ते युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च
आदर्शमिव तथामति रवैति करणानुयोग च ४४**

‘तथा’ तेन प्रथमानुयोगप्रकारेण । ‘मतिर्मननं श्रुतज्ञानं’ ।
अवैति जानाति । कः ‘करणानुयोग’ लोफालोकविभाग पचसप्र
हादिलक्षण । कथंभूतमिव ? ‘आदर्शमिव’ यथा आदर्शो दर्पणो
मुखादेर्यथावत्स्वरूपप्रकाशकस्तथा करणानुयोगोऽपि स्वत्रिपयस्याय
प्रकाशकः । ‘लोकालोकविभक्ते’ लोकेषु ते जीवादयः पदार्था य-
त्रासीं लोकस्त्रिचर्यारिशदधिकशतत्रयपरिमितरज्जुपरिमाणं — तद्वि-
परीतोऽलोकोऽनन्तमानावच्छिन्नशुद्धाकाशस्वरूपः । तयोर्निभक्तिर्विभागे
भेदस्तस्या आदर्शमिव, तथा ‘युगपरिवृत्ते’ युगस्य कालस्योत्सर्पि-
ण्यादेः परिवृत्तिः परावर्तनं तस्या आदर्शमिव, तथा ‘चतुर्गतीनां
च’ नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणानामादर्शमिव ॥ ४४ ॥

अन्वय - तथामति करणानुयोग लोफालोकविभक्ते च युग-
परिवृत्ते च चतुर्गतीनाम् आदर्श इव अवैति । शयथा ।
तथामति, लोकालोकविभक्ते च युगपरिवृत्ते च चतुर्गतीनाम्
आदर्शम् इव अवैति तत् करणानुयोग कथयति ॥

निरक्ति - लोफश्च अलोकश्च लोकालोकौ । लोफालोकयो
विभक्ति इति लोकालोकविभक्ति तस्या । युगस्य परिवृत्ति तस्या
युगपरिवृत्तेः । चतस्रश्च गतय इति चतुर्गतय तासाम् ।

१-यथा यस्तुन स्वरूपो भवति तथैव मननं मन्त्रबोधनं-
तथामति सम्यग्ज्ञानमित्यर्थः ।

अर्थ—श्रुतज्ञान, करणानुयोगको लोकअलोकके विभागको तथा युगके परिवर्तनको और चतुर्गतियोंके जाननेको दर्पणके समान है ऐसा जानता है । (तथा) जो उत्तम ज्ञान लोकविभागको अलोकविभागको कल्पकालोंके परिवर्तनको तथा चारों गतियोंके जननेको दर्पणके समान है उसको करणानुयोग कहते हैं ॥ ४४ ॥

तथा—नरचारित्तमुष्णीण किरियाण रिद्धि गेहसहियत्थ ।

उपसंग सण्णास चरणा णिठय पससति ॥

चरणानुयोगना लक्षण कहते हैं ।

**गृहमेध्यनगाराणा, चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाद्गम् ।
चरणानुयोगसमय, सम्यग्ज्ञानं विजानाति ॥४५॥**

‘सम्यग्ज्ञान’ भावश्रुतरूप । विशेषेण जानाति । कः चरणानुयोगसमय चारित्रप्रनिपादक शास्त्रमाचारादि । कथंभूतः चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षा चारित्रस्योत्पत्तिश्च वृद्धिरच रक्षा च तासामङ्गकारणम् अगानि कारणानि प्ररूप्यते यत्र । केषां तदङ्गम् । ‘गृहमेध्यनगाराणा’ गृहमेधिनः श्रावणा अनगारा मुनयस्तेषाम् ॥

अत्रय —सम्यग्ज्ञान चरणानुयोगसमय गृहमेध्यनगाराणा चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाद्ग विजानाति । अथवा यत् सम्यग्ज्ञान गृहमेध्यनगाराणा च रित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षाद्ग विजानाति तन् चरणानुयोगसमयम् आचार्या कथयति ॥

इसकी ससृष्ट टोडामें फट्ट पाठ छूट गया है अनेक धर्मग्रन्थों में देखनेपर भी नहीं मुला

निरुक्तिः—समीचीन च यत् ज्ञान सम्यग्ज्ञानम् गृहमेधिमत्र
 अनगारारच इति गृहमेधनगारा, तेषां गृहमेधनगाराणाम् । उत्प-
 त्तिरच वृद्धिश्च रक्षा च उत्पत्तिवृद्धिरक्षा । चारित्रस्य उत्पत्तिवृद्धिरक्षा
 णाम् अगनि यस्मिन् तत् चारित्रोरगतिवृद्धिरक्ष हम् ॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान, भावश्रुत चरणानुयोगशास्त्रको
 गृहस्थके, मुनियोंके चारित्रकी उत्पत्ति वृद्धि रक्षाका अग
 (कारण) जानता है । अथवा जो भावश्रुत गृहस्थ तथा
 मुनिराजोंके चारित्रोंकी उत्पत्ति वृद्धि तथा रक्षाके अगोंको
 (साधनोंको) जानता है (कहता है) उसको चरणानु
 योग शास्त्र कहते हैं ॥ ४५ ॥

द्रव्यानुयोगना लक्षण कहते हैं ।

जीवाजीवसुतरत्ने, पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च ।
 द्रव्यानुयोगदीप, श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

‘द्रव्यानुयोगदीपो’ द्रव्यानुयोगसिद्धात्तमूत्र तत्कार्यसूत्रादिस्व
 रूपोद्रव्यागम स एव दीप स अतनुते’ विस्तारयति अशेषात्र
 शेषत प्ररूपयति । के ‘जीवाजीवसुतरत्ने’ उपयोगलक्षणो जीवः
 तद्विपरीतोऽजीव । तावेव शोभने अवाप्रिते तत्त्वे वस्तुस्वरूपे आत
 नुते । तथा ‘पुण्यापुण्ये’ सद्देशशुभायुर्नामगात्राणि हि पुण्य । ततोऽय
 त्वर्माऽपुण्यमुच्यते । ते च मूलोत्तरप्रवृत्तिभेदेनाशेषपरिशपतो द्रव्यानु-
 योगदीप आतनुते । तथा ‘बन्धमोक्षौ च’ मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद
 इपाययोगदृष्टणहेतुवशादुपाजितेन कर्मणा सदात्मन सक्षेपो बन्ध
 कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षलक्षणो मोक्षस्तावप्यशे-

वत् द्रव्यानुयोगदीप आतनुते । कथं ? "श्रुतविद्यालोक" श्रुतविद्या
भावश्रुत सेवालोकः प्रकाशो यत्र कर्मणि तद्यथा भवत्येव जीवानीनि
स प्रकाशयतीति ॥ ४६ ॥

इति प्रभावद्रविरचितायां समन्तमद्रस्वामिविरचितो-
पासकाध्ययनटीकाया द्वितीय परिच्छेदः ॥२॥

अन्वय--द्रव्यानुयोगदीप जीवाजीवसुतत्वे च पुण्यपुण्ये च
बन्धमोक्षौ श्रुतविद्यालोक यथा स्यात् तथा आतनुते ॥ अथवा
बन्धमोक्ष जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च श्रुतविद्या-
लोक यथास्यात्तथा आतनुते, स द्रव्यानुयोगदीप कथ्यते ।

निरुक्त--द्रव्यानुयोग, एव दाप इति द्रव्यानुयोगदीपः।
जीवरच अजीवरच जीवाजीवा । जीवाजीवा च सुतत्वे इति जीवा-
जीवसुतत्वे । पुण्य च अपुण्य च पुण्यापुण्ये । बन्धरच मोक्षरच
बन्धमोक्षौ । श्रुतविद्या एव आलोक यत्र इति श्रुतविद्यालोक तम् ॥

अथ द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीवतत्त्वको वा अजीव-
तत्त्वको, तथा पुण्य पापको और बन्ध मोक्ष तत्त्वको जिस
तरहस भावश्रुतका विस्तार हो तिस प्रकार जाने है मकट
करे है विस्तार है । दूसरा अर्थ--जो ज्ञान जीव अजीव इन
उत्तम तत्त्वोंको बन्धमोक्षको और पुण्य पापतत्त्वोंको प्रका-
शित करते हैं जाने है वह द्रव्यानुयोग भावश्रुत ज्ञान है ।
इति श्रीसमन्तमद्रस्वामिविरचिते रत्नसरण्डनासि उपासकाध्ययने
गौतमालसिद्धातगादिप्रणा निवृत्ताया पञ्जिकाया हिन्दीभाषाया

सद्वृत्ते गुणात्रताधिकार तृतीयः

धर्मका तीमग अरयत्र जो सद्वृत्त उमका गणन करते हैं—
अथ चरित्ररू । धर्म व्याचिायासुराह—

मोहतिमिरापहरणे, दर्शनलाभादवाप्तमज्ञान ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै, चरण प्रतिपद्यते साधु ॥४७॥

‘चरण’ द्विसादिनिवृत्तिलक्षण चरित्र ‘प्रतिपद्यते’ स्वीकरोति । कोऽसीः ‘साधु’र्भयः । कथभूत ‘अज्ञातसञ्ज्ञान’ । कस्मात् ‘दर्शनलाभात् । तन्नामोऽपि तस्य कस्मिन् सति सञ्ज्ञातः । ‘मोहतिमिरापहरणे’ मोहो दर्शनमोहः स एव तिमिर तस्यापहरणे यथासम्भ्रमुपशमे क्षये क्षयोपशमे वा । अथवा मोहो दर्शाचारित्र मोहस्तिमिर ज्ञानावरणादि तयोरपहरणे । अथमर्थ —दर्शनमोहापहरणे दर्शनलाभ । तिमिरापहरणे सति दर्शनलाभादवाप्तसञ्ज्ञान भवत्यात्मा ज्ञानावरणापगमे हि ज्ञानमुत्पद्यमान सददर्शनप्रसादात् सम्यग्ग्रहपदेश समते, तथाभूतधात्मा चारित्रमोहापगमे चरण प्रतिपद्यते । त्रिमर्थः ‘रागद्वेषनिवृत्त्यै रागद्वेषनिवृत्तिमित्तम् ॥ ४७ ॥

अन्यथ —साधु चरण प्रतिपद्यते । कस्यै मिदर्थः ‘रागद्वेषनिवृत्त्यै । कथभूत साधु, मोहतिमिरापहरणे सति दर्शनलाभात् अज्ञातसञ्ज्ञान ।

(१) प्रति पृथक् पदोऽ् गती धा क्त्वरि ण् “द्विवादेः श्य” २।१।८३ इति श्यः । प्रतिपद्यते, स्वीकरोति ।

निरुक्ति - रागेश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ, रागद्वेषयो निवृत्ति इति रागद्वेषनिवृत्ति, तस्यै । मोह एव निमिर मोहतिमिरम् मोहति मिरस्य अपहरण मो-निमिरापहरण तस्मिन् । दर्शनस्य लाभः दर्शनलभ तस्मात् । अज्ञानं सज्ञानं यस्य स अज्ञानसज्ञान ॥

अर्थ - भगवन्-मत्पुरुष, चारित्रिकी अगीकार करते हैं (प्राप्त होते हैं) किमलिये ' राग द्वेषको दूर करनेके लिये । कैसे हैं वे साधु ? जिनका मिथ्यास्वरूप अधकारके दूर होने पर अथवा दर्शनमोहनीय अन-तानुबन्धी स्वरूप चारित्रमोहनीय तथा ज्ञानावरणरूपी तिमिरके क्षयोपशम तथा उपशम और क्षयके होने पर सम्यग्दर्शनका लाभ होनेसे प्राप्त हो गया है सम्यग्ज्ञान जिनको ऐसे हैं ।

तस्मिन्निवृत्तानेव हिंसादिनिवृत्ते समयादित्याह-

उन राग द्वेषोंके क्षयोपशमादि होने पर हिंसादि पापोंका परित्याग होता है ऐसा बताते हैं ।

रागद्वेषनिवृत्ते हिंसादिनिवर्तना कृता भवति ।
अनपेक्षितार्थनृत्ति, क पुरुष सेवते नृपतीन् ॥

२-रश्चने राग । रश्च रागे घो घञ् तत 'घञि भावकरणे' भावश्च इति ङकारण्यं चम् । ३-मोहः-दशामोहनीयं वा तानुबन्धीकपायवेद्मनीयश्च । तिमिरमित्र तिमिरम् ज्ञानावरणं दशानावरणं च तयोरपहरणं क्षयोपशमं यथायोग्यं क्षय उपशमश्च ।

हिंसादेः निर्वर्तना व्यावृत्तिः कृता भवति । कुत्र हिंसा
 वृत्तेः । अयमत्र ता पर्यार्थ - प्रवृत्तरागादिशुभोपशमादे, हिंसा
 तिलक्षण चरित्र भवति ततो भाविरागादिप्रवृत्तेरेव प्रकृत
 प्रकृतमादि निर्वर्तने देशसयतादिगुणस्थाने रागादिहिंसादि
 स्तावद्वर्तते यावन्नि गेपरगादिप्रक्षय, तस्माच्च नि शेषहिंसादि
 तिलक्षण परमोदासीनतास्वरूप परमो वृष्टचरित्र भवतीति । -
 वारस्य सपर्यनार्यमर्थोत्तरायाममाह—अनपेक्षितार्थवृत्ति क पुरु
 सेवते नृपतीन् अनपेक्षिताऽनमिलयिता अर्थस्य प्रयोजनस्य फल
 वृत्तिः प्राप्तिर्नेन स तथाविध पुरुष को न कोऽपि प्रेक्षापूर्वकार
 मेवने नृपतीन् ॥४८॥

अन्वय - रागद्वेषनिवृत्ते हिंसा निर्वर्तना कृता भवति अम-
 पेक्षितार्थवृत्ति क पुरुष नृपतीन् सेवते अपि तु न ।

निवृत्तिः-रागद्वेषो निवृत्ति इति रागद्वेषनिवृत्ति तस्याः
 रागद्वेषनिवृत्तेः । हिंसा आर्द्रा येषां तानि हिंसादानि, हिंसादीनाम
 निर्वर्तना इति हिंसादिनिर्वर्तना । न अपेक्षितार्थवृत्ति यस्य स
 अनपेक्षितार्थवृत्ति । नृणाम् पनय नृपतय तान् नृपतीन् ॥४८॥

अर्थ—राग द्वेष दूर हो जानेमे हिंसादिक पाप दूर
 हो जाते है । जिमको पन प्राप्तिची चाह नहीं है ऐमा कौन

१-नि पूर्वक श्रुत यताने धो "हेतुमति" २।१।३६ इति णिच ।
 तदन्ता घव २।१। ४ इति 'धु' रुधा । "प्यास्विच्छर्त्तु य घट्टिघ-दो
 ऽन" २।१।६४ इति भन त्य । स्वाघात् 'अजाघता टाप" ३।१।४
 इति टाप निवर्तना व्यावृत्ति त्याग इत्यथा ।

तेभ्य हिसानृनचीयेभ्य । मथुनसेवा च परिग्रहश्च इति
 सेवापरिग्रहो ताभ्या मैथुनसेवापरिग्रहाभ्याम्, पापस्य ।
 इति पापप्रणालिका ताभ्य इति पापप्रणालिकाभ्य । सम्यक्
 रेण जानाति इति सन् तस्य सज्ञस्य सम्यग्ज्ञानिन ॥

अर्थ—सम्यक्ज्ञानियोंका जो हिंसा भूठ चोरी में
 और परिग्रहसे विराम होना (छूटना) सो चारित्र है ।
 हैं वे हिंसादि ? पापमय हैं, पापकर्मका बध होने
 लिये प्रणाली हैं—आसन्न है ॥ ४९ ॥

तद्येयभूत चारित्र द्विधा भिद्यत इत्याह—

उस चारित्रके भेद करते हैं—

सकल विकल चरण, तत्सकल सर्वसगविरतान्
 अनगाराणा विकल, सागाराणा ससगानाम् । ५०

हिंसादिविरतिलक्षण यचरणं प्राक् प्ररूपितं तत् सकल विकल
 च भवति । तत्र सकल परिपूर्णं महाप्रनरूप । केषा तद्भवति ।
 अनगाराणां मुनीनाम् । किंविशिष्टात् सर्वसगविरतानां ?
 भ्यतरपरिग्रहरहितानाम् । विकलमपरिपूर्णम् अणुत्रनरूपम् । केषा
 तद्भवति ? सागाराणां गृहस्थानाम् । कथभूतानां ? ससगान
 मप्रधानाम् ॥ ५० ॥

अन्वय — तत् चरणं द्विविधं भवति । किं तद् द्विविधम् ।
 सकलं विकलं । तत्र सकलं चरणम् अनगाराणां भवति । कथ
 भूतानाम् अनगाराणां ? सर्वसगविरतानाम् । तत्र च विकलं चरणं
 सागाराणां भवति । कथं भूतानां सागाराणां ? ससगानाम् ॥

निरुद्धि—उच्चैः सदा सर्वात्मनः । सर्वभूयैभ्यः शिरताः
 नूनैर्भ्यः क्षेत्रं । नभिन विदते आत्मारो देवा मे अनगारा सेषाम् ।

शब्द—बह चारित्र दो प्रकारका होता है एक मगल
 रत्ना विद्वान् । निम्नमें पहिला सफल चारित्र मुनियोके
 लता है । कैमें हैं मुनि । जो नर्य मगस परिग्रहसे रहित हैं ।
 उग विद्वल चारित्र गृहस्थोंके होता है, फैसे हैं गृहस्थ
 त्रिगोपे युक्त हैं ॥ ५० ॥

एव विद्वलमेव तावच्चरण व्याचष्टे—

गृहस्थोंके विद्वलचरणको कहते हैं—

द्विणा त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मक चरणम्
 त्रिचतुर्भेद, त्रय यथासङ्ख्यमाख्यातम् ॥५१॥

गृहिणां सम्बन्धि यत् विद्वल चरणं तत् त्रेधा त्रिवरारं
 नैश्चि भवति । त्रिविधि सत् । “अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणं”
 अणुव्रतरूप गुणव्रतरूप शिक्षाव्रतरूप सत् । त्रयमेव त्रिविधं
 अणुव्रतस्य च त्रिचतुर्भेदमाख्यात प्रतिपादित । तथा हि । अणुगुण-
 पचभेद, गुणव्रत त्रिभेद, शिक्षाव्रत चतुर्भेदमिति ॥ ५१ ॥

अन्वय—गृहिणां चरणानि तिष्ठन्ति, किं तत् त्रयो
 अणुगुणशिक्षाव्रतात्मकम् । तद्वत् त्रयानि पच त्रिचतुर्भेदम्

स हि त्रसप्राणातिपातात्रिवृत्तो न म्यावरप्राणातिपातात् । तथा पापा
दिमयात् पापीडादिनागुमिणि म्या रथूलदमस्यञ्चत्रिवृत्तो न
तद्विपरीतात् । तथा यवीडकगत । मनादिभयादिना परेण परिस्य
कादभ्यदत्तार्यान् रथूलनिवृत्तो न तद्विपरीतात् । तथा उपाक्षाया अनु
पतावारच पराङ्गनाया पापभयाग्निना निवृत्तो ना भया इति रथूल
रूपाऽनलनिवृत्ति । तथा धन गन्धक्षेत्रेरेच्छावशात् वृत्तपरिच्छेदा
इति रथूलरूपात् परिग्रहानिवृत्ति । तथा भूनेभ्य प्राणातिपातादिभ्यः
पापभ्य पापस्रवणद्वारेभ्य ॥ ५० ॥

अन्वय — रथूलभ्य प्राणातिपाति तत्रव्याहारस्तेयनाम
मूर्च्छाम्य पापेभ्य व्युत्तरमणम् अणुव्रत भवति ॥

विरुक्ति - प्राणानाम् अनिघन प्राणातिपात । वितथश्चा-
सौ व्याहार वितथव्याहार । प्राणातिपातश्च विषयव्याहारश्च
स्तेयश्च कामश्च मूर्च्छा च इति प्राणातिपातविषयव्याहारस्तेय-
काममूर्च्छा ताभ्य तथा । अणु च यत् व्रतम् अणुव्रतम् ॥ ५२ ॥

अर्थ रथूल स्वरूप हिंसा अमत्य चोरी मैथुनमेवन और
परिग्रह (तुङ्गा) इन पापोंमें दूर होना त्याग करना सो
अणुव्रत है ।

१-स्तेनस्य भाव कः वा स्तेयम् "स्तेयार्हत्वं" ३।३।१५३
इति य नवारलोपदः । ३-मउन मूर्च्छा-मूर्च्छा मोहसमुद्राय-
योरिति धो 'सरोहल' ४।३।१०० इति रिपाम् अत्य
पनः टाप ।

तत्रायत्रत व्याख्यातुमाह—

अहिंसाशुभ्रतका लक्षण वताते हैं—

सङ्कल्पान्कृतकारितमननाद्योगत्रयस्यचरसत्त्वान्
न हिनस्ति यत्तदाहुः, स्थूलवधाद्विरमण निपुणा ।

‘चरसत्त्वान्’ असजीवान् ‘यत्र हिनस्ति’ तदाहुः स्थूलवा-
धाद्विरमणम् । के त ? निपुणा हिंसादिविरतित्रयविचारदक्षा । क-
स्मान्नस्ति ? मन्त्रात् सङ्कल्प हिंसामिमप्यमाधिल्ल । कथमू-
तात् सङ्कल्पात् ? कृतकारितानुमननात् कृतकारितानुमनारूपात् ।
कस्य सम्प्रधिने ? योगत्रयस्य मनोवाक्यद्वयस्य । अत्र कृतवचन
कर्तुं स्वात्तन्त्र्यप्रतिपत्त्यर्थं । कारितानुविधान परप्रयोगापेक्षमनुवच-
नम् । (अनु) मननवचन प्रयोजकस्य मानसपरिणामप्रदर्शनार्थम् ।
तथा हि मनसा चरसत्त्वहिंसा स्वयं न करोमि चरसत्त्वान् हिनरमीति
मन सङ्कल्प न करोमीत्यर्थं । मनसा चरसत्त्वहिंसामयं न कार-
यामि । चरसत्त्वान् हिंसय हिंसयेति मनसा प्रयोजको न भवामी
त्यर्थं २ तथा अत्र चरसत्त्वहिंसा कुर्वन्त मनसा नानुम ये सु दरमनेन
वृत्तिमिति मन सङ्कल्प न करोमीत्यर्थं ३ एव वचसा एव चरसत्त्व
हिंसा न करोमि चरसत्त्वान् हिनरमीति स्वयं वचन नोच्चारयामी-
त्यर्थं । ४ वचसा चरसत्त्वहिंसा न कारयामि चरसत्त्वान् हिंसय हिंस
येति वचन नोच्चारयामीत्यर्थः ५ तथा वचसा चरसत्त्वहिंसा कुर्वन्त नानु-
मये साधुकृत त्वयेति वचन नोच्चारयामीत्यर्थं । ६ तथा कायेन चर-
न करोमि चरसत्त्वहिंसेन दृष्टिमुष्टिसाधने स्वयं कथ-

व्यापार न करोमीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा कायेन चरसत्त्वहिंसां न
कारयामि चरसत्त्वहिंसने वादसङ्गया पर न प्रेरयामीत्यर्थ ८ तथा
चरसत्त्वहिंसां कुर्वन्तमय नखच्छ्रोत्रिकादिना कायेन नानुमये १५
कृतमहिंसाणुव्रतम् ॥ ९ ॥ ५३ ॥

अन्वय - तत् निपुणा स्थूलवशात् निरमणम् आह । किं
तत् यत् योगप्रयम्य सकल्पात् चरसत्त्वान् न हिनेस्ति कयभूतात्
सकल्पात् १ कृतकारितमननात् ॥

निरुक्ति - कृत च कारित च मनन च एषां समाहार कृत-
कारितमनन, तस्मात् कृतकारितमननात् । योगानां प्रय योगप्रय,
तस्य । चराद्ये ते सतां चरसत्त्वा तान् । स्थूलधासौ वैध स्थूल-
वध, तस्मान् ॥

१-हिंसि हिंसने धो सतिक्वले लट् तिप् तत् 'रुधा श्नम्'
२।१।६२ इति श्नम्, हिनस्ति हति मारयति वियोजयति ।

२-हान वधः-हानो हिंसागत्योरिति धो 'घञ्च वधः'
२।३।६३ अनेन धञ् त्य । हनश्च वधादेशः हिंसेत्यध ।

विशेष-हिंसा चार प्रकारमें होती है १ सकल्पसे, २ उद्यमसे
३ विरोधसे, ४ आरम्भसे । जीव दो प्रकारके हैं-अस १ स्थावर २
इममेंसे गृहस्थ सकल्पसे अस जीवोंकी हिंसाका त्यागी है ।
स्थावर जीवोंकी हिंसाका अभी त्यागी नहीं है तथा उसके
शेष तीनों प्रकारकी हिंसाओंका त्याग नहीं है । सकल्पी हिंसा
उमकी कहते हैं जो देवा देवताओंके लिये मन्त्रसिद्धिके लिये,
धीपधिक लिये यानेके लिये तत्र सिद्धिके लिये ही-द्रोय आदि
असजीवोंको मारता है मरजाता है । मनसे
यचनासे तथा शरीरसे वह धणुव्रतो
पद अत्रतो पापा भीर

अर्थ—उस हेतुको बुद्धिमान लोग
 कहते हैं (वह कौनसा हेतु ?) जोकि
 मद्यन्त प्रमत्तप्रणियोंका नहीं माना है। किंसा है
 मद्यन्त? कृत कारित और अनुमोदना रूप है ॥ ५३ ॥
 तस्मिन्नामनीचाराह—
 अहिमाअणुप्रतक अतीचार बताते हैं ।

छेदनवन्धनपीडन मतिभारारोपणं व्यतीचारा ।
 आहारवारणापि च, स्थूलवधाद् व्युपरते पञ्च ५४

अर्थात् चारा त्रिविधा विकल्पका वा अतीचारा दोषा । यत्र
 पच । नस्य र स्थूलवधाद्युपरते । कथमित्याह “छेदनेत्यादि” वर्ण
 नासि रशीनामवधनामपनयन छेदन । अतिभारारोपणे गतिनिरोधहेतु
 बन्धन । पाडन पाटा दण्डकशाद्यभिधात । अतिभारारोपणं याप्य
 भारादधिरभारारोपण । न केवलमेतच्चतुष्टयमेव किं तु आहारवारणापि
 च आहारस्य अन्नानलक्षणस्य वारणा निषेधो (धारणा) वा निरोध ।

अन्वय—स्थूलवध द्युपरते पच व्यतीचारा भवन्ति, के त
 पच र छेदन वन्धनपाडनम् अतिभारारोपणम्, अपि च आहारवारणा ।
 निरुक्ति छेदन च वन्धन च पीडन च एषा समहार
 छेदनव धनपीडनम् । अतिभारस्य आरोपणम् इति अनिभारारो
 पणम् । आहारस्य वारणा इति आहारवारणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—स्थूलवध त्याग अणुप्रतक ५ पाच अतीचार
 होते हैं । मनुष्य तथा तिर्यञ्चोके शरीरको छेदना, बाधना,
 पीडा देना, अधिक भार लादना (अधिक काम करना
 अधिक कर वसूल करना तथा अ

व्यापार न करोमीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तथा कायेन चरसररहिंसां न कारयामि चरमचरहिंसने वादसञ्ज्ञया पर न प्रेरयामात्यर्थं ॥ तथा चरसररहिंसां कुर्वन्तमय नग्बद्धोटिकादिना कायेन नानुमन्ये इत्युक्तमहिंसाणुव्रतम् ॥ ९ ॥ ५३ ॥

अन्वय - तत् निपुणा स्थूलप्रधात् विरमणम् श्राद्धः । किं तत् यत् योगत्रयस्य सकल्पात् चरसरवान् न हिंसेति वयभूतात् सकल्पात् कृतकारितमननात् ॥

निरुक्ति - कृत च कारित च मनन च एषा समाहारः कृत-कारितमनन, तस्मात् कृतकारितमननात् । योगानां त्रय योगत्रय, तस्य । चराश्च ते सत्ता चरसत्या तान् । स्थूलधासौ वैध स्थूल-वध तस्मात् ॥

१-हिंसि हिंसने धो सतिकाले लट् तिप् तत् "रुधा श्नम्" २।१।६२ इति श्नम्, हिंसेति हन्ति मारयति वियोजयति ।

२-हान वध - हन्ति हिंसागत्योरिति धो "हन्श्च वधः" २।३।६३ अनेन अच् त्य । हन्श्च वधादेश हिंसेत्यर्थः ।

विशेष-हिंसा चार प्रकारसे होती है १ सकल्पसे, २ अथमसे ३ विरोधसे ४ धारमसे । जीव दो प्रकारके हैं-अस १ स्थावर २ इनमेंसे गृहस्थ सरल्पसे अस जीवोंको हिंसा न त्यागी है । स्थावर जीवोंको हिंसाका अभी त्यागी नहीं है तथा उसके शेष तीनों प्रकारकी हिंसाओंका त्याग नहीं है । सकल्पी हिंसा उमको कहते हैं जो देवी देवता तोंके लिये मन्त्रसिद्धिके लिये, धर्मधिके लिये खानेके लिये तन्त्र सिद्धिके लिये मन्त्रोय आदि असजीवोंको मारता है मरवाता है ननुमे वचासे तथा शरीरसे यह अणुव्रतों सिद्धि यह धर्मता पापो और दुराचारा



अर्थ—उस हेतुको बुद्धिमान् लोग स्थूलवध त्याग कहते हैं (वह कौनसा हेतु ?) जोकि मनवचनकायके सकल्पसे व्रसप्राणियोंका नहीं मारना है। किंसा है वह सकल्प ? कृत कारित और अनुमोदना रूप है ॥ ५३ ॥

तस्येदानीमतीचारात् —

अहिंसाअणुव्रतके अतीचार बताते हैं ।

छेदनवन्धनपीडन मतिभारारोपणं व्यतीचाराः ।

आहारवारणापि च, स्थूलवधाद् व्युपरते. पञ्च ५४

व्यतीचारा त्रिविधा निरूपका वा अतीचारा दोषा । यतिः पञ्च । कस्य ? स्थूलवधाद्युपरते । कथमित्याह “छेदनेत्यादि” कर्ण नासिकादीनामृषयानामपनयन छेदन । अभिमत्तंशो गतिनिरोधहेतु बन्धन । पीडन पीटा दण्डप्रशापभिघातः । अतिभारारोपणं यास्य भारादधिकभारारोपणम् । न केषलमेतच्चतुष्टयमेव किं तु आहारवारणापि च आहारस्य अन्नानलक्षणस्य वारणा निषेधो (वारणा) वा निरोधः ।

अत्र च - स्थूलवध द्व्युपरते पञ्च व्यतीचारा मयति, के ते पञ्च ? छेदनवन्धनपीडनम् अतिभारारोपणम् अपि च आहारवारणा ।

निरुक्ति छेदन च वन्धन च पीडन च एषां समहार छेदनवन्धनपीडनम् । अतिभारस्य आरोपणम् इति अतिभारारोपणम् । आहारस्य वारणा इति आहारवारणा ॥ ५४ ॥

अर्थ—स्थूलवध त्याग अणुव्रतके ५ पाच अतीचार होते हैं । मनुष्य तथा तिर्यञ्चोक्त शरीरको छेदना, बाधना, दना, अधिक भार लादना (अधिक काम कराना कर बसूल करना तथा अधिक सजा दना) ॥ ५४ ॥

एवमहिंसागुणव्रत प्रतिपाद्येदानीमनृतविरमण्यगुणव्रत प्रतिपादयन्नाह—

सत्यागुणव्रतका लक्षण कहते हैं

स्थूलमलीक न वदति,

न परान् वादयति सत्यमपि विपदे ॥

यत्तद्वदन्ति सन्त,

स्थूलमृषावादवैरमणम् । ५५ ।

‘स्थूलमृषावादवैरमणम्’ स्थूलश्चासौ मृषावादश्च तस्माद्वैरमण्यविरमण्यमेव वैरमण्यं तद्वदति । के ते ? सत् सत्पुरुषाः गणधरदेवादयः । तत्किं ? स तो यन्न वदति, अलीकमसत्यम् । कथं भूतं ? “स्थूलम्,” यस्मिन्नुक्ते स्वपरयोर्निधवधादिकराजादिभ्यो भवति तास्त्वयत्तान्न वदति । तथापरान् यान् तथाविधमूलकान् वादयति । न केवलमलीकमित्युक्तं सत्यमपि चौरोऽथमित्यादिरूपं न स्वयं वदति न परान् वादयति । किं विशिष्टं यदुक्तं सत्यमपि परस्य विपदेऽपकाराय भवति।

अन्वय — तत् सन्त स्थूलमृषावादवैरमण्यं वदन्ति । तत् किं ? यत् स्थूलम् अलीकं न वदति, न परान् अपि वादयति विपदे गत्यम् अपि न वदति ॥

१-विरमण्यमेव चरमण्यम् स्वार्थेऽण् । २-वद व्यक्ताया वाचि घोः स्वार्थे लट् वदति वक्ति । ३-तस्मादेव हेनुमनि २।१।३६ इति णिञ् लट्त्वं । “शब्दे” १।२। ४८ अनेन अण्यत् कर्तारि परे पदे कर्मासन्ना तत कर्माणोः” १।३। १ अनेन इ विभक्तौ । अयान् । तं न जल्पयति इत्यर्थः ।

निरुक्ति. स्थूलस्थासौ मृषावादश्च इति स्थूलमृषावाद स्थूल
मृषावाद द्वैरमण मिति स्थूलमृषावादवैरमणम् विपदे विपर्ययम् ॥

अर्थ—उम हेतुको साधु लोग स्थूल मृषावाद त्याग
कहते हैं (कौनसा वह हेतु) जो कि न म्यय स्थूल-कूट
बोले हैं और न दूसरोंको बुराबावे है तथा जिस वचनसे
आपत्ति हो जावे एमे सत्य वचनको भी नहीं बोले है ५५

स प्रत सत्याणुव्रतस्यातीचाराणाह

सत्याणुव्रतक अतीचार कहते हैं—

परिवादरद्वोभ्याख्या, पैशून्य कूटलेखकरण च ।

न्यासापहारितापि च, व्यतिक्रमा पञ्च सत्यस्य ।

“परिवादो” मिथ्योपदेशोऽभ्युदयनि. प्रेयसार्थेषु क्रियाविशेषे न य
स्यान्यथाप्रवर्तनमित्यर्थः । “रद्वोऽभ्याख्या” रहसि एवा-न्ते क्षीणुमाभ्या
मनुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्याभ्याख्या प्रकाशनम् । “पैशून्यम्” अङ्गविकार-
भ्रमिच्छेदादिभिः पराभिप्रायं ज्ञात्वा असूयादिना तत्प्रकटनं साकारम्
न्त्रमेव इत्यर्थः । कूटलेखकरणं च अ-पेनानुकमननुष्ठितं यत्किञ्चिदेव
तेनोक्तमनुष्ठितं चेति वञ्चनानिमित्तं कूटलेखकरणं कूटलेखक्रियेत्यर्थः ।
‘न्यासापहारिता’ द्र-यनिक्षेप्तुर्विस्मृतमएवस्थाङ्गसहस्रं द्र-यगाददानस्य
एवमेवेत्यभ्युपगमयवचनम् । एव परिवादादपरचत्वारो यासापहारिता
पञ्चमीति सत्यस्याणुव्रतस्य पञ्च व्यतिक्रमा अतीचारा भवति ॥५६॥

४-विपूर्णात् पद धाः 'सपदादिभ्य क्विप् क्ति ।' शश६३
अतीत क्विप् । “तादर्थ्ये” शश२५ इति षष् विभक्तौ । विपदे

५- ६ लाय इति यावत् ।

अन्यथ - म शय पश्च व्यतिक्रमा भवति । केते पञ्च ।
परिवादरहोभ्याख्यापेश्य च कूटलेखकरणम्, अपि च यासा
पहारिता ॥ ५६ ॥

निरुक्ति - परिवादरच रहोभ्याख्या च पेश्यन्य व एषां समा-
हार परिवादरहोभ्याख्यापेश्य । कूटचास्ता लेख कूटलेखः । कूटले
खस्य करणम् कूटलेखकरणम् । यास्य अपहारिता इति - यासापहारिता ।

अर्थ - मत्स्य द्रणुव्रतके पाच अतीचार होते हैं, जोकि
परिवाद दूमरोंकी चुगई करना । रहोभ्याख्या दूमरोंकी गुप्त
गातोंको प्रगट करना । पेश्य-चुगनी करना । कूट लेख
करण छुठे लेख बनाना । यासापहारिता-दूमरोंकी धरोहरको
हड़प लेना अर्थात् घरोहर रखने वाला अपनी धरोहरको
भूलम कम घटावे तो उसको उतनी ही देना शेषको मध्य
जानता हुआ भी न देना ॥ ५६ ॥

अधुना चापरिवादद्रणुव्रतस्य स्वरूप प्ररूपयन्नाह-

अर्चार्थाणुव्रतस्य लक्षण कश्चे ई

निहितं वा पतितं वा, सुविस्मृतं वा परस्वमभिसृष्टम् ।
न हरति यन्न च दत्ते, तदकृगचौर्याद्विपरमणम् ॥

१-न्यास परे निहितम् अपश्यति इत्येव शोल न्यासापहारो
पिन्त्य । तस्य न्यासापहारिणो भाव न्यासापहारिता 'माधे
त्य तल' शब्दात् २३६ इति तल खोत्यात् टाप ।

अकृशचौर्यात् स्थूलचौर्यात् । उपारमण तत् । तत् किं ? यत्
 न हरति न गृह्णाति । किं तत् ? परस्व परद्रव्य । कथभूत ? निहित
 (वा) घृत । तथा पतित वा । तथा सुविस्मृत वा अतिशयेन विस्मृत ।
 वा शब्द सर्वत्र परस्परसमुच्चये । इत्यभूत परस्वम् अविस्मृतम् अदत्त
 पस्वय न हरति न दत्त ऽयस्मि, तदकृशचौर्यादुपारमण प्रतिपत्तव्यम्
 अत्राय. - तत् अकृशचौर्यात् उपारमण भवति ? यत् परस्व न
 हरति न च अन्यस्मै दत्ते । कथभूत परस्व ? निहित वा पतित वा
 सुविस्मृत वा अविस्मृतम् ॥ ५७ ॥

निरुक्ति परस्य रसम् परस्वम् परद्रव्य परधनमित्यर्थ । न
 विस्मृतम् अविस्मृत अकृश च यन् चै र्यं तत् अकृशचौर्यम्, तस्मात् ।

अर्थ-उमको स्थूल चोरी त्याग अणुव्रत कहते हैं जो
 परद्रव्यको न चुरावे है और न उम परद्रव्यको दसरोके
 लिये देवे है । कैमा है वह परद्रव्य ? जोकि किसीका रक्खा
 हुआ पड़ा हुआ भूला हुआ अथवा छोड़ा हुआ हो-किसीने
 न दिया हो ॥ ५७ ॥

तस्येदानीमतिचारानाह-

१-नि पूर्वक द्वाभ्यां धारणे धो 'स्त्रिया चिः' २।१८० इति
 ति 'धात्रो हि' ५।२।१६१ इति हि आदेश निहित स्थापित 'य-
 स्तमित्यथ ॥ २-परश्चासी स्व हातिरिति परस्य । हातिवाचो
 स्वशब्द 'पु सि वर्तते । स्व स्यात्पु स्यात्मनि हाती त्रिधात्मोपेऽ
 द्विषां घने' इति मेदिनी । जो दूसरी जाति ('याति) को हरण
 करता है वह स्थूल चोरी है ।

अचौर्याणुव्रतके अतीचार षताते हैं—

**चौरप्रयोगचौरार्था दानविलोपसदृशमन्मिश्ना ।
हीनाधिकविनिमान, पञ्चास्तेये व्यतीपाताः ५८**

अस्तेये चौर्यविरमणे । व्यतीपाता अतीचारा पच भवन्ति । तथा हि । चौरप्रयोग चोरयतः स्वयमेवान्येन वा प्रेरण प्रेरितस्य वा अयेनानुमोदन । चागर्यादान च अप्रेरितेनाननुमनेन च चोरेष्वा-नीतस्वार्थस्य प्रदृश । विलोपरच उचितयायादयेन प्रकारेणार्थस्या-दान विरुद्धराज्यातिक्रम स्वर्य । विरुद्धराज्ये स्वल्पमूल्यानि महार्प्यापि द्रव्याणीति कृत्वा स्वल्पतरेणार्थेन गृह्णाति । सदृशसमिश्नरच प्रति-रूपक्यवहार इत्यर्थ । सदृशेन तलादिना समिश्न घृतादिकु करोति । कृत्तमैरच हिरण्यदिभिन्नखनापूरु व्यवहारं करोति । हानाधिक-विनिमान विविध नियमेन मान विनिमान मानो मानमित्यर्थ । मान हि प्रस्थादि, उमान तुलादि, तच्च हीनाविक हीनेन अ यस्मै ददाति अधिकेन स्वय गृह्णातीति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अस्तेये पञ्च व्यतीपाता स्मर्तव्या । के ते पञ्च ? चौर-प्रयोगचौरार्थादानविलोपसदृशमिश्ना च हीनाधिकविनिमानम् ।

निरुक्ति - चौरस्य प्रयोग इति चौरप्रयोग । चारस्य अर्थ चौरार्थः । चौरार्थस्य आदान चौरार्थादानम् । सदृशे समिश्न । सदृशसमिश्न । चौरप्रयोगरच चौरार्थादान च विलोपरच सदृश-

१-स्तेनस्य भाव इत्या वा स्तेयम् । 'स्तेयाऽहत्वम्' २।४।१४३
अनेन यस्त्य न लोपश्च । नास्ति स्तेय यस्मिन् ८१

सन्निधय इति चौरप्रयोगचौराणां दानत्रिलोकसदृशसन्निधौ । हीन
 च अत्रि च विनिमान च यत्र तत् हीनाधिकविनिमान । विविध
 नियम मान ज्ञानिनियमो राजनियमो व्यापारनियमो देशनियमश्चेति
 विनिमनम् । नियमोक्ता अथवा अत्रि कर्मा ।

अर्थ — अचौर्याणुत्रतके पाच अतीतार जानना, जो कि
 चोरी करनेकी प्रेरणा करना, १ चोंगेसे चोंगीका द्रव्य
 लेना २ राजा और जतिके नियमोंका लोपना ३ जिनसे
 धारा दिया जा सक एवे ममान स्वरूपी पदार्थोंका
 मिश्रण करना ४ भोजनादिस्क देनेमे तोलनेमे निर्धार
 करनेमे याय करनेमें नाप तोलके बाटामे तथा नियमोंमें
 हीन (यूत्र) अधिक करना ॥ ५ ॥ ५८ ॥

सम्प्रतः ब्रह्मवेरयणुत्रतम्बरूप प्रतिपादयन्नाह—

ब्रह्मचर्याणुत्रतस्य लक्षणं वतलाते ह्ये—

न तु परदारान् गच्छति,

न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।

सा परदारनिवृत्तिः,

स्त्रदारसन्तोषनामापि ॥ ५९ ॥

‘सा परदारनिवृत्तिः’ यत् परदागन् परिगृहीतानपरिगृही
 तारिच स्वयं ‘न च’ नैव गच्छति । तथा परानन्यात् परस्परलम्पटान्
 न गमयति (परदारेषु गच्छतो यत्प्रयोजयति न च) कुतः पाप

भीते पापोपार्जनमयात् न पुन नृपत्यादिभयात् । न भेदल सा
परदारनिवृत्तिरेवोपने किन्तु स्वदारसतोपनामापि स्वदारेषु सन्तोष
स्वदारमतोपस्तन्नाम यस्या ॥ ५६ ॥

अन्य - सा परदारनिवृत्तिः भवति, अपि स्वदारसन्तो-
पनामा ज्ञानव्या । सा का' यन् पापभीतेः परदारान् न तु गच्छति च
परान् न गमयति ।

निरुक्ति - परस्य दारा परदारा परदरेभ्य निवृत्ति सा
परदार निवृत्तिः । स्वस्य दारा स्वदारा । स्वदारेषु सन्तोष इति स्व
दारमन्तोष । स्वदारसतोप नाम यस्य-इति स्वद रसतोपनामा ।

अर्थ-यह परदारनिवृत्ति अत जानना । अथवा यह
स्वदारमन्तोष त्रन जानना (यह कान) जो भाव पापके मयसे
परस्त्रीकी नहीं प्राप्त करता न दूसरोंको प्राप्त कराता हो ५९

तस्यातिचागनाह-

त्रक्षत्रयाणुव्रतके अतीचार कहते हैं ।

अन्यविवाहाकरणा नद् गक्रीडाविटत्वविपुलतृप-
इत्वरिकागमन चास्मरस्य पञ्च व्यतीचारा । ६०।

'अस्मरस्याप्रहानिदृत्ययुवतस्य' पञ्च व्यतीचारा । यथमित्याह

१-एतो वाचसां पि दार शब्द पुष्टिद्वे धरने नित्यवहुप्रचना तश्च
अत्र गम् धो चे-दातमकमैशुनप्रापणाध-यत्त्वान अप । 'चेष्टा-
गति कमण्यप्राप्तेऽविषौ १।४।२३ अनेन द्वितीयाग्रिमस्त्रीविहिता
२-पगन् अत्र तु 'जागम्यदर्श, गये' १।२।१४७ अनेन अप्य-
न्तकतरि कम् सद्यत्वात् द्वितीया ।

“अयेत्यादि” कयादान विवाह अन्यस्य अविवाह तस्य आसमन्तात्
 करण तच्च अनङ्गक्रीडा च अग लिंग योनिरच तयोरन्यत्र मुखादि
 प्रदेशे क्रीडा अनङ्गक्रीडा । विटत्व भण्डिमाप्रधानकायवाक्प्रयोग* ।
 विपुलतृट् च कामतीव्रमिनिवेशः । इतिरिकागमन परपुरुषानेति
 गच्छतीत्येव शोला इवरी पुरचली । कुत्साया के कृते इतिरिका
 भवति तत्र गमन चेति ॥ ६० ॥

अन्वय अस्मरस्य पञ्च व्यतीचारा* ज्ञानव्या । के ते पञ्च ?
 अन्यविवाहाऽऽकरणाऽनङ्गक्रीडाविटत्वविपुलतृट् च इतिरिकागमनम् ।

निरुक्तिः—न स्मर स्मरादिरुद्धो वा अस्मर तस्य । अ यस्य
 विवाह अयविवाह, अ यविवाहस्य आसमन्तात् करणम् अ य
 विवाहाकरणम् । न अङ्गम् अनङ्गम्, अनगेन श्रीङ्गाकरणमिति
 अनङ्गक्रीडाकरणम् । अयविवाहाऽऽकरणा च अनङ्गक्रीडा च विट
 त्व च विपुलतृट् च इति अयविवाहाकरणानङ्गक्रीडाविटत्वविपुल
 तृट् । परपुरुषम् एति गच्छति सा इवरी । कुत्सिता इवरी इति
 इतिरिका । इतिरिकायाम् गमन सेवनमिति इतिरिकागमनम् ॥६०॥

अर्थ—कामत्यागके (परस्त्री त्यागप्रतके) पाच अती
 चार जानना, जोकि, दूसरोंका विवाह करना १ अनिश्चित
 अय अगोंसे भोग क्रिया करना २ मड वचनादिसे कुचेष्टा
 करना ३ अधिक अधिक तृष्णा करना ४ व्यभिचारिणी
 स्त्रियोंक साथ सम्बन्ध रखना ॥ ६० ॥

१-इष्ट गतो धो स्त्रिणशज्जेष्टवरण्' ३-१११ ६ अनेन दृष्ट-
 र्णस्य टिप्पणात् स्त्रिया टा पुनः "कुत्सिताऽज्ञाताऽल्पे" ४।१।१८०
 अनेन निश्यामर्षा क त्य टाप-पुनस्य इतिरस्य च प्र ।

अथेदानीं परिग्रहविरत्यणुन्नस्य स्वरूप दर्शयन्नाह —

परिग्रहाणुन्नतका लक्षण भवाते हैं—

धनधान्यादिग्रन्थ, परिमाय ततोऽधिकेषुनि स्पृहताः
परिमितपरिग्रहः स्या इच्छापरिमाणनामापि ६१

‘परिमितपरिग्रहो’ देशत परिग्रहविरत्यणुन्नत स्यात् । कासौ *
या ‘ततोऽधिकेषु’ ‘निरस्पृहता’ ततस्तेभ्य इच्छावशात् कृतपरिस-
ख्यातेभ्योऽर्थेभ्योऽधिकेष्वर्थेषु या निस्पृहता वाञ्छा व्यावृत्ति । किं
कृत्या ? परिमाय’ देवगुरुयादाग्रे परिमित कृत्या । कम् ? “धनधा-
न्यादिग्र य” धन गवादि, ध य व्रीह्यादि । आदिशब्दाद्वासीदासभार्या-
गृहक्षेत्रद्रव्यपुवर्णरूप्याभरणवस्त्रादिसग्रह । स च सौ ग्र यश्च त
परिमाय । स च परिमितपरिग्रह इच्छापरिमाणनामापि स्यात्,
इच्छाया परिमाण यस्य स इच्छापरिमाणस्तनाम यस्य स तथे तः । ६१

अन्वय — धनधन्यादिग्र य परिमाय तत* अत्रिनेषु निरस्पृ-
हता परिमितपरिग्रहः स्यात् तथा इच्छा परिमाण नाम अपि कथयति ।

निरुक्ति — धन च भा य च धनधा ये, धनग्रा ये अदौ-
यस्मिन् स धनधान्यादि, धनग्रायादिथासौ ग्र यश्च इति धनधा-
न्यादिग्र य* तम् । निगता स्पृहा यस्य स निरस्पृह तस्य भावः

१-परि पूर्वक मा माने धो ‘परशत्रैक कृतु क्वात्’ ७।४।७ इति
कृत्वा तस्य च यस्तित्राकसे कथं ” ७।१।३१ अनेन प्य आदे-
श । “न प्ये” ४।३।७२ इत्य निषेध । परिमाय-परिमाण कृत्वा ।

२-मृगयेच्छेप्रत्या १।१।०४ इति इपु धो श ।

निस्पृहता । परिमित परिग्रहो यस्मिन् न परिमितपरिग्रह ॥६१॥

अर्थ—धनधान्यादि परिग्रहोंका परिमाण करना उससे अधिक न करना सो परिमितपरिग्रहाणुव्रत है ।
इसका दूसरा नाम इच्छापरिमाण भी है ॥ ६१ ॥

तस्यापिचागनाह—

परिग्रहाणुव्रतके अतीचार कहते हैं ।

अतिगहनातिमग्रह विस्मयलोभातिभारवहनानि
(परिमितपरिग्रहस्य च, विक्षेपा पञ्च लक्ष्यन्ते ६२

‘विक्षेपा’ अतीचारा । पञ्च ‘लक्ष्यन्ते’ निर्दिश्यन्ते । यस्य ‘
‘परिमितपरिग्रहस्य’ न केवलमद्विसाधगुणनस्य पश्चात् चारा नि
रचीयन्ते अपि तु परिमितपरिग्रहस्यापि । चशब्दोऽत्रापिशब्दार्थे ।
के तस्यापिचारा इत्याह—“अतिगहनेत्यादि” लोभानिगृह्णित्व-
स्य परिग्रहपरिमाणे कृते पुनर्लामावेशवशादतिगहन करोति,
यावत् द्वि मर्गं बलीवर्षादय सुखेन गच्छति ततोऽप्यतिरेकेण
वाहनेमत्तसाहाम् । अतिशब्द प्रत्येकं लोभात्तानां सम्बन्धते ।
इद धान्यादिभ्योऽपि विशिष्ट लाभ दास्यतीति लोभावेशादतिशयेन
तत्तममं करोति । तद्व्यतिपन्नलाभेन विक्रीने तस्मिन् मूलतोऽप्य-
सम्रहाते षाधिकेऽर्थे तद्व्यापिकेन लब्धे लोभावेशादतिविस्मय
विपाद करोति । विशिष्टेऽर्थे लब्धेऽप्यपि मलाभान्नाह्वावशादति-
लोभ करोति । लोभावेशादपि कर्मसारोपखमतिभारवहनम् । ते
विक्षेपा पञ्च ॥ ६१ ॥

अन्वय —परिमितपरिग्रहस्य विज्ञेया पञ्च लक्ष्य ते के ते
पञ्च ? अनिवाहनात् सप्रद विस्मय लोमानि भागवहनानि ॥६१॥

निष्क्रि —अनिवाहन च अतिसप्रहृद्य विस्मयश्च लोभश्च अनि
भारवहन चेति अनेवाहनातिमप्रहृद्विस्मयलोमानिभागवहनानि ।

अर्थ — परिमित परिग्रहप्रतके पात्र अतीचार निश्चित
किने गय हैं (जो कि) हाथी घोड़ा मोटर रथ आदि
सवारियोंका पमाणम अधिक रखना अधिक चलाना १
अधिक माल तरु सप्रहृद रखना २ आश्चर्य (विषाद) करना ३
लोभ करना कजूषी करना ४ अधिक भार लादना ५॥६२॥

एव प्रवृत्तानि पचाणुव्रतानि निरतीचाराणि त्रिं दुरतीत्याह—

अणुव्रतोंके धारण करनेका फल यताने हैं ।

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणा, फलन्ति सुरलोकं
यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीर च लभ्यन्ते ।६३।

फलति पठ प्रयच्छति । के ते ? पचाणुव्रतनिधय पचाणु-
व्रतान्येव निधयो विधानानि । कथभूता ? निरतिक्रमणा निरतिचाराः ।
किं फलति ? सुरलोकम् । यत्र सुरलोके लभ्यते । कानि ? 'अवधि'
अवधिज्ञानम् । 'अष्टगुणा' अष्टिमासहिमेल्य'दय' । दिव्यशरीर च
सप्तध तुरिगर्भित शरीर । एतानि सर्वाणि यत्र लभ्य ते ॥ ६३ ॥

अन्वय —पञ्चाणुव्रतनिधय त सुरलोक फलति । किं
भूता । पञ्चाणुव्रतनिधय ? निरतिक्रमणा । तम् यम् ? यत्र
अवधि* अष्टगुणा च दिव्यशरीर लभ्यते ॥ ६३ ॥

१-कुलमय प्राप्ती इति धो "टी" १।२।७ इति नः । "भाष-
कर्म दि" १।१।३१ टि मन्ना । गेयक २।१।८० एक विकरण ।

निरुक्तिः—पञ्चाणुव्रतानि एव निधय पञ्चाणुव्रतनिधयः
निगता अतिक्रमणा येस्य ते निरतिक्रमणा । दिव्य च यत् शरीरं
च दिव्यशरीरम् वैक्रियिक देहम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—पांच अणुव्रतरूपी निधिया स्वर्गलोकको प्राप्त
करती हैं—फलें हैं। क्रमी हैं वह पांच अणुव्रतरूपी निधिया
जो कि अतीचाररहित है। यह कोनसा है स्वर्ग लोक ?
जिमम अग्निमान और अग्निमादि अष्टगुण तथा दिव्य
वैक्रियक शरीर मिलता है ॥ ६३ ॥

इह लोके किं कस्याप्यहिंसाव्रतानुष्ठानफलप्राप्तिर्दृष्टा येन
परलोकार्यं तदनुष्ठयने इत्याशङ्क्याह—

एक एक भा अणुव्रतके पालन करनेसे जिन्होंने फल
प्राप्त किया है उनमेंसे कवल एक एक प्रतीका नाम बताते हैं।
मातङ्गो धनदेवश्च, शरिपेणस्तत परः ।

नीली जयश्च सप्राप्ता, पूजातिशयमुत्तमम् ॥ ६४ ॥

हिंसाविरत्यणुव्रतात् मानङ्गेन चाण्डालेन उत्तम पूजातिशयः प्राप्तः ।

अस्य कथा ।

सुरम्यपेशे फोदना पुरे राजा महाउल । न दीक्षगष्ट्या राज्ञा
अष्टदिनानि जीयाऽमारणघोषणायां वृतायां बल्कुमारेण चाल्यतमां
सासकेन क्वचिदपि पुण्यमभयता राजोदाने राजकीयमेष्टक
प्रच्छेतेन भारयित्वा सम्भार्य भक्षितः । राज्ञा च मेष्टकमारणवा-
र्तागाकर्ष्य रुष्टेन मेष्टकमारणो गन्धेयवित्तु प्रारब्धः । तदुद्यनमाला
कारेण च वृक्षोपरिचटिनेन स तमारणं कुर्वाणो दृष्टः । रात्रौ च

निजभार्याया कथित, तत्र प्रच्छन्नचरपुरुषेणाकर्ष्य राज्ञ कथित ।
 प्रभाते मालाकारोऽप्याकारित । तेनैव पुनः कथित, मदीयामाज्ञां
 मम पुत्र खण्डयतीति हृष्टेन राज्ञा कोट्टपालो भणितो यत्कुमारं
 नमग्वयड वारयेति ततस्त कुमार मारणस्थान नीत्वा मातङ्गमानेतु
 ये गता पुरुषास्तान् विलोक्य मातङ्गेनोक्त प्रिये ! “मातङ्गो माम
 गत” इति त्रयपत्न्यमेतेषामित्युक्त्वा गृहकोषे प्र-
 इन्द्रो भूत्वा स्थित । तत्रैरश्वाऽऽकारिते मातङ्गे, कथित मातङ्गा सोऽथ माम गत ।
 भणित च तल्लारै “स पापोऽपुण्यमानघ माम गतः ? कुमारमारणा
 त्तस्य ऋसुपर्णरक्षदित्तामो भवेत्” तेषां वचनमाकर्ष्य द्रव्यलुब्धया
 तया मातङ्गभीतया हस्तासङ्गया स दर्शितो माम गत इति पुनः
 पुनर्भण त्वा । ततस्तेस्त गृहानि सार्य तस्य मारणार्थं स कुमार सम-
 र्पित । तेनोक्त “नाद्य चतुर्दशीदिने जीवघात करोमि” ततस्त
 चारै स नीत्वा राज्ञ कथित, । देव ! अथ राजकुमारं न मारयति ।
 तेन च राज्ञ कथित “सपदयो मृत श्मशाने निक्षिप्तः सर्वेषधि
 मुनिशरीरस्य प्रायुना पुनर्जातोऽइ तत्कार्ये चतुर्दशीदिघमे मया
 जीवऽर्हिसाव्रत गृहीतमतोऽथ न मारय मि” देवो यज्जानाति तत्करोतु ।
 अस्पृश्यचाणालस्य व्रतमिति सचित्य हृष्टेन राज्ञा द्वावपि गात्र वध-
 यिना शिशुमारद्रहे निक्षेपितौ । तत्र मातङ्गस्य प्राणाल्ययेऽप्यर्हिसा
 व्रतभपरित्यजतो व्रतमाहात्म्याज्जलदेवतया जलमध्ये सिंहासनमणि
 मण्डपिकादृन्दमिसाधुनागदिप्रानिहार्यादिर कृत महाबलराजेन
 चैतदाकर्ष्य भीतेन पूजयित्वा निजच्छत्रतले स्थापय या स स्पृश्यो
 विविष्ट कृत इति प्रथमाशुव्रतस्य ॥ १ ॥

अनुनविरत्यणुवनाद्धनदेशश्रेष्ठिना पूजातिशय प्राप्त । अस्य कथा
 जम्बूद्वीप पूर्वदिदेशे पुष्कलावतीनिषये पुण्डरीकिण्यां पुर्या
 वशिर्जा जिनदेवधनदेवी स्वल्पद्रव्या । तत्र धनदेव* सत्यवादी द्वय
 स्य लाभ द्वयवर्धमर्ध गुनीश्याम इति नि साक्षिर्मा व्ययस्था कृत्वा
 दूरदेश गर्ना । ऋद्धव्यमुपा-र्य व्याघ्रुन्व कुशलेन पुण्डरीकिण्यामा
 यती । तत्र जिन्दो लाभार्धं धनदेवाय न ददाति रतोक्द्रव्यमा
 चित्येन ददानि । ततो भ्रूटके याये च सति स्वजनमहाजनराजा
 प्रनो नि माक्षि स्वयम्हारवलाजिनदेवो वदति न मयाऽस्य लाभार्धं
 भणितमुचितमेव भणितम् । धनदेवश्च सत्यमेव वदति द्वयोरर्धमेव ।
 ततो राजनियमाचयोर्द्रव्य (?) दत्त, धनदेव, शृद्धो नेतर तत्र सर्वं द्रव्य
 धनदेवरय समपित तथा सर्वैः पूजित, साधुमारितश्चेति द्विती
 याणुव्रतस्य ॥ २ ॥

अचार्धविरत्यणुवनाद्धारिभ्येन पूजातिशय प्राप्त । अस्य
 कथा स्थित करणगुणव्यापानप्रगटके धयितेह (३८ तमे पृष्ठे)
 दृष्टव्यति, तृतीयाणुव्रतस्य ॥ ३ ॥

तत पर नीली जयश्च । ततस्तेभ्य पर यथा भवत्येव
 पूजातिशय प्राप्ता तत्रामलानिरत्यणुवनाः नीली शिन्पुत्री पूजातिशय
 प्राप्ता । अस्या* कथा ।

ललाटदेशे ऋगुज्जपक्षने रागा समुपाल वशिग्जिनदत्तो
 भार्या जिनदत्ता पुत्री नीला अतिशयेन रूपवती । तत्रैवाऽपर श्रेष्ठी
 समुद्रदत्तो भार्या सागरदत्ता पुत्र सागरदत्त* । एकदा महापूजाया
 वसन्तर्ती षायो मर्गेण स स्थिता सर्वाभरणविभूषिता नीलीमालोक्य

सागरदत्तेनोक्त विमेषाणि देवता वाचिदेतदानार्थं तस्मिन्प्रण प्रिय-
दत्तेन भणितम्—जिनदत्तश्रेष्ठिन इय पुत्री नीली । तद्ग्रावसोकनाद-
तीवासक्तो भूः सा वधमिय प्राप्यत इति तत्परिणयनचितया दुर्वलो
जात । समुद्रदत्तेन चेतदानार्थं भणित — हे पुत्र ! जैन मुक्त्वा
नायस्य जिनदत्तो ददानीमां पुत्रिकां परिषेत्तुम् । ततरतौ काठ-
श्रावकौ जातौ परिणीता च सा, तत पुनस्तौ बुद्धभक्ता जाता,
नीरुपाश्च पितृगृहे गमनमपि निषिद्धम्, एव वचने जाते भणित जिन-
दत्तेन इय मम न जाता कूप दौ या पतिता यमेन धा नीता इति ।
नीली च शशुरगृहे भर्तु बल्लभा भित्तगृहे जिनधर्ममनुतिष्ठतीति ।
दर्शनात् समर्गाद् धर्मवचनाकारुण्यनाद्वा कालेनेय बुद्धभक्ता भविष्यतीति
धर्मदेवरचनाऽऽपर्यालोच्य समुद्रदत्तेन भणिता न सा पुत्री । ज्ञानिनां
बन्दकानामस्मदर्थं भोजन देहि । ततस्तया बन्दकानामयाह्वय च तेषा-
मेकैका प्राणहिन तिपिथा सस्कार्य तेषामेव भोक्तु दत्ता । तैर्भोजन
मुक्त्वा गच्छद्भि पृष्ट—क प्राणहिता ? तयोक्त भयत एव ज्ञानेन
जानन्तु “यत्र तास्तिष्ठति” यदि पुनर्ज्ञान नास्ति तदा यमन कुर्वे तु,
भवतामुदरे प्राणहितास्तिष्ठतीति । एव यमन कृत दृष्टानि प्राणहिता
खण्डानि । ततो रुष्टश्च शशुरपहजन । तत सागरदत्तभ
गिन्या कोपात्तन्या अस्वपरपुरुषदोषोद्भावना कृता । तस्मिन् प्रसिद्धि
गते सा नीली देवाग्रे सगृहीता कायोत्सर्गेण स्थिता ‘दोषोत्तारे भो-
जनादौ प्रवृत्तमम नायथेति’ । तत क्षुभितनगरदेवनया ध्यागल्य
रात्रौ सा भणिता । हे महासति ! ‘मा प्राणव्यगमेव धुरु’ अह
रात्र प्रधानाना पुरजनस्य च स्वप्न ददामि । लगा यथा तगरप्रतोन्न्य
कीलिता ‘महासती वामवरणेन सस्पृश्य उद्धरिष्यतीति ताश्च प्रमात्रे-

अन्वय - मातङ्ग च धनदेव ततः पर चारिषेण, नीली च जय एते क्रमशः पञ्चागुत्रतप्रभावात् उत्तम पूजातिशय सप्राप्ता ।

निरुक्ति - पूजाया अतिशय इति पूजानिश्चय त पूजानिश्चयम् ।

अर्थ - मातङ्ग और धनदेव उसके आगे चारिषेण नीली और जय ये पाचों क्रमसे अगुत्रतके प्रभावसे उत्तम बढ़ती हुई पूजाको प्राप्त हुबे हैं ॥ ६४ ॥

एव पचानामहिंसादिब्रताना प्रत्येक गुण प्रतिपाद्येदानी तद्वि पक्षभूताना हिंसाद्युपेताना दोष दर्शयन्नाह -

एक भी पाप करनेसे जिन्होंने दुर्गति पायी है उनमें से एक एकका नाम दिखाते हैं -

धनश्रीसत्यघोषौ च, तापसारक्षकावपि ।

उपारयेयास्तथा श्मश्रु नवनीतो यथाक्रमम् । ६५

धनश्री श्रेष्ठिया हिंसातो बहुप्रकार दुःखफलमनुभूत । सत्य घोषपुरोहितेनानृतात् । तापसेन चौर्यात् । आरक्षजन कोष्पालेन ब्रह्मणि वृत्त्यभावात् । परिग्रहतृष्णानो लुब्धदत्त श्मश्रुनवनीतेन च । ततोऽवतप्रभवद्दुःखानुभवने उपारयेया इष्टान्तत्वेन प्रतिपाद्या । के ते ? धनश्रीसत्यघोषौ च । न केवल एता एव किन्तु तापसारक्षकावपि । तथा तनैव प्रसिद्धप्रकारेण श्मश्रुनवनीतो वशिष्, यतस्तेनापि परिग्रहनिवृत्त्यभावात् बहुतरद्दुःखमनुभूत । यथाक्रम उक्तक्रमानतिरामेण हिंसादिनिरत्यभावे ण्ते उपारयेया प्रतिपाद्याः तत्र धनश्री हिंसातो बहुद्दुःख प्राप्ता ।

१-चारिषेण अत्र पत्यगः ५१५८७ इति मृधा यदकारान्तेन ।

२-स प्राप्ता अत्र धिम यथाच्च २१५५० अनेन ककारि क्त ।

अस्या कथा ।

ललाटदेशे भृगुरुच्छात्तने राजा लोमपाठ । वाणमधनपालो
 भार्या धनश्री मनामपि जीमन्वेऽनिरता । तत्पुत्री सुदरी पुत्रो
 गुणपाल । अत्र काले धनश्रिया य पुत्रसुद्धया कुण्डलो नाम
 बालक पोषित , धनपाले मृते तत्र सट धनश्री कुर्मरता जाता
 गुणपाले च गुणदोषपरिवानके जाते धनश्रिया तच्छृङ्खलितया
 भणित प्रसरे गोधन चारवितुमट या गुणपाल प्रेषयामि लग्नस्त्व
 तत्र मारय येनात्रयोर्निरकुशुमवस्थान भवतीति पुत्राणा मातरमाकर्ष्य
 सुदर्या गुणपालस्य कथितम्—अथ रात्रौ गोधन गृहीत्वा प्रसरे
 त्वामटयां प्रेषयित्वा कुण्डलद्वस्तेन माता मारयिष्यत्यत सावधानो
 भवेस्त्वमिति । धनश्रिया च रात्रिपरिचमप्रहरे गुणपालो भणितो
 हे पुत्र ! कुण्डलस्य शरीर विरूपक वर्तते अत्र प्रसरे गोधन गृही
 त्वाद्य त्व व्रजेति स च गोधनमटव्या नीत्वा काष्ठ च उभय पिधाय
 तिरोहितो भूत्वा स्थित । कुण्डलेन चागत्य गुणपालोऽयमिति
 मत्वा बलप्रच्छादितकाष्ठे धातु कृतो गुणपालेन च स खड्गेण
 हत्वा मारितः । गृहे आगतो गुणपालो धनश्रिया पृष्टः । “क रे
 कुण्डल ” तेनोक्त कुण्डलनातामय खड्गोऽभिजानाति । ततो
 रक्षालिप्त बाहुमालोक्य स तेनैव खड्गेन मारित । तं च मारयन्तो
 धनश्रिय दृष्ट्वा सुदर्या मुशलेन मा दता । कोलाटले जाते कोट्ट-
 पालैर्धनश्रीर्धृत्वा राजोऽप्रे नीता । राज्ञा च गर्दभारोहणे कर्णनासि-
 काष्ठेदनादिनेम्रेः कारिते मृत्वा दुर्गतिं गतेति प्रथमाणुव्रतस्य ।

सत्ययोधोऽच्युताद्दृष्टु ख प्राप्त ।

इत्यस्य कथा ।

नूद्वीपे भरतक्षेत्रे सिद्धपुरे राजा सिंहसेनो राज्ञी रामदत्ता,
पुरोहित श्रीभूनि सत्यसूत्रे कर्त्रिकां वधा भ्रमति । वदति च
यवसत्य प्रीतिमि तदाऽनया कर्त्रिकया निजजिह्वाद्येद करोमि ।
एव कपटेन वतमानस्य तस्य सत्यवोप इति द्वितीय नाम सनात
लोकेश्वर्य विश्वस्तास्त्रयार्ये द्रव्य धरति च । तद्द्रव्य किञ्चित्तेषां
समर्थ स्वय गृह्णाति । पूरुक्तं च विभेति टोक , न च पूरुक्त राज्ञा
शृणोति । अथैकदा पद्मखण्डपुरादागम्य समुद्रदत्तो वणिक्सुत्रस्तत्र
सत्यवोपयार्येऽनर्थाणि पचमाणिक्यानि धृत्या परतीरे द्रव्यमुपार्ज
यितु मन । तत्र च तदुपार्थं व्याघुटिन स्फुटितप्रवहण ष्वफल
ने नोत्तीर्य समुद्र भृतमाणिक्ययाञ्जया सिंहपुरे मलयोपसमीपमायात ।
त च रश्ममानमागच्छ तमालोक्य तमाणिक्यहरणार्थिना सत्यवो
पेण प्रत्यक्षपूर्णां समीपोपनिष्ठपुरुषाणा वयित । अथ पुरुष
स्फुटितप्रवहण ततो ग्रहिलो जातोऽत्रागत्य माणिक्यानि दाक्षिण्य-
तीति । तेनागत्य प्रणम्य चोक्त भो सत्यवोप पुरोहित । ममार्योप-
र्जनार्थं गनस्योपार्जनार्थस्य महानर्थो जात इति मत्वा याति मथा तव
रत्नाणि धर्तुं समर्पितानि तानीदानीं प्रसाद कृत्वा देहि । येनात्मान स्फु-
टितप्रवहणात् गतद्रव्य समुद्गमि । तद्वचनमाकर्ण्य कपटेन सत्यवो
पेण समीपोपनिष्ठा जना भणित्ता मया प्रथम यद् भणित भवतां सत्य
जात । तैरुक्तं भवत एव जानत्यय ग्रहिलोऽस्मात् स्थानानि सार्थ-
तामित्युक्त्वा तैः समुद्रदत्तो गृह्णाति सारितं ग्रहिल इति भण्यमात् ।
पत्तने पूकार कुर्वन् ममानर्थपचमाणिक्यानि सत्यवोपेण गृहीतानि
तथा राजगृहसमीप चिंचावृक्षमारुह्य पश्चिमरात्रे पूकार कुर्वन् षण्मा-

मारु स्थित, तां पूवृत्तिमाकर्ष्य रामदत्तया भणित मिहसेन—
 देव ! नय पुरुष प्रहेतु । राजापि भणित—किं सत्यघोषस्य चौप
 समाव्यते ? । पुनरुक्त रक्षा देव ! सभाव्यते तस्य चौप, यतोऽप-
 मेनादृशनेन सर्वदा वचन ब्रवीति । एतदाकर्ष्य भणित राज्ञा—यदि
 सत्यघोषस्यैवत् समाव्यते तदा त्व परीक्षयेति । उन्वादेशया राम
 दत्तया सत्यघोषो राजसेनार्यमागच्छन्नाकार्य पृष्ट - किं बृहद्वेलाया
 मागतोऽभि ? तेनोक्त—मम ब्राह्मणाभाताद्य प्राचूर्णक समायातस्त
 भोजयतो बृहद्वेला उग्रति । पुनरप्युक्त तथा—क्षणमेकमत्रोपविश
 ममातिशौतुरु जान । ध्वञ्जक्रीडां कुर्म । राजापि तत्रैवा तगतेनाप्येव
 कुर्वित्युक्त । ततोऽक्षय्ने क्रोडया सजाते रामदत्तया निपुणमतिवि
 लासिनी करेण उमित्वा भणित्वा—सत्यघोष पुरोहितो राज्ञीपार्षे
 तिष्ठत तेनाह प्रहेलनाखिक्याणि याचिन्तु प्रेषितेति तद्ब्राह्मण्यमे
 भणित्वा तानि याचयित्वा च शीघ्रमागच्छेति । ततस्तथा गन्तु याचि
 तानि तद्ब्राह्मण्या च पूर्वं सुतरां निषद्दया न दत्ताणि । तद्विला
 सिन्या चागत्य देविकरणे कथित सा न ददातीति । ततो जितमु
 द्विका तस्य साभिज्ञान दत्ता पुत्रः प्रेषिता तथापि तथा न दत्तानि ।
 तनस्तस्य कर्त्रिका यशोवतीत जित साभिज्ञान दत्त दर्शित च ।
 तथा ब्राह्मण्या तदर्शनाद् दुष्टया भीतया च तथा ममर्षितानि माणि
 कयानि तद्विलासिन्या । तथा च रामदत्ताया समर्षितानि । तथा च
 रामो दर्शितानि । तेन च गृह्णामाखिक्यमये निक्षेप्याऽऽकार्य
 च अद्विलो भणित, रे निजमाखिक्यानि परिज्ञाय गृहाण । तेन च
 ते राज्ञा रामदत्तया च पुत्र प्रतिपन्न । ततो राज्ञा

सख्यवोप* पृष्ट. - इदं कर्म त्वया कृतमिति । तेनोक्तं देव । न करो-
मि स्म किं ममेदृशं कर्तुं युज्यते ? ततोऽतिरुष्टेन तेन राज्ञा तस्य
दण्डत्रयं कृतम् । गोमयमृतं भाजनत्रयं भक्षणं, मङ्गमुष्टिघातं च
सदृशं, द्रव्यं वा सर्वं देहि । तेन च पर्यालोच्य गोमयं खादितुमार-
ब्धं । तदशक्तेन मुष्टिघातः सदितुमारब्धः । तदशक्तेन द्रव्यं दातु-
मारब्धः । तदशक्तेन गोमयभक्षणं पुनर्मुष्टिघात इति । एव दण्डत्रयम-
नुभूय मृत्वाऽतिलोभवशाद्राजकीयभाण्डागारे शङ्खधनसर्पां जातः ।
तत्रापि मृत्वा दीर्घससारी जात इति द्वितीयत्रयस्य ।

तापसरचौर्याद्वहदृ खं प्रातः । इत्यस्य कथा ।

वत्स्यदेशे कौशाम्बीपुरी राजा सिंहस्थो राज्ञी विद्वान् ।
करचारं शौटिल्लयेन तापसो भूत्वा परभूमिमास्पृशद्वद्वन्द्वन्तः
स्थो दिवसे पञ्च मिसाधनं करोति । तत्र च वैश्वान्तं सुन्द-
निष्ठति । एतदा महाजनामुष्टं नगरमाकर्ष्य गङ्गा श्रेष्ठं नदी-
रं ममरात्रमध्ये चौरं निजशिरो वाऽऽनय ।
तापरं तत्तारोऽपराह बुभुक्षितब्राह्मणेन चैन्द्रं तं सुन्द-
तेनोक्तं हे ब्राह्मण ! द्युदसोऽसि, मम श्रेष्ठं सुन्द-
भोजनं प्रायश्चै एतद्वचनमाकर्ष्य पृष्टं सुन्द-
न्देह ! कथितं च तेन । तत्राकर्ष्यं सुन्द-
कोऽप्यतिनिस्पृहपुरवोऽप्यस्ति । सुन्द-
पत्नी, न च तस्यैवत् सम्म-
भविष्यति अन्तेनस्पृहात्वात् । सुन्द-

कपटन सर्प शरीर प्रच्छाद्य स्तन ददानि । रात्रौ तु गृहपिण्डारेण
 सह कुकर्म करोति । तद्दर्शनात् सजातराम्योऽह मन्वर्ष सुवर्णश
 काकां वशयष्टिमध्ये निक्षिप्य तीर्थयात्राया निर्गतः । अग्रे गच्छतश्च ममक
 बटुको मिलितो न तस्य विश्वास गच्छाम्यह यष्टिरक्षां यत्न करोमि ।
 तेनाऽऽकलितां यष्टिं सगे रिभार्मि । एतदा रात्रौ कुम्भकारगृहे निद्रा
 कृत्या दृग्दत्त्वा तेन निजमस्तके लग्न बुधिततृणमालोभ्यातिकुम्बुटे
 ममागतो, हा हा मया नोक्त परतृणमदत्त प्रसितमित्युक्त्वा व्याघ्रुव्य
 तृण तत्रैव कुम्भकारगृहे निक्षिप्य दिवसावसाने कृतभोजनस्य ममा-
 गत्य मिलित । भिक्षार्थं गच्छन्स्तस्यातिशुचिरयमिति मत्वा विश्व
 सितेन मया यष्टि कुक्कुरादिसारणार्थं ममर्पिता । तां गृहीत्वा स
 गत ॥२॥ ततो मया महादृष्ट्या गच्छतातिवृद्धपक्षिणोऽन्तिकुम्बुट
 दृष्ट यथा एतस्मिन् महति वृद्धे मिलित पक्षिगणो रात्रावेनेनाति
 वृद्धपक्षिणा निजभाषया भणितो-रे रे कुत्र । अहं प्रतीत गतु
 न शक्नोमि बुभुक्षितमना कदापिद्भ्रमपुत्राणा भक्षण करोमि चित्त
 व्यापल्यादतो मम मुख प्रभाते उद्भवा मर्षोऽपि गच्छतु । तैस्त्वं हा
 हा तात ! पित महम्म्य किं तत्रैतत् सभाव्यते ? तनोक्त-“बुभुक्षित
 किं न करो त गतम्” इति । एव प्रभाते तस्य पुनश्चचनात् त मुख
 उद्भवा गता स च उद्धो गरेषु तेषु चरणाभ्या मुखाद्बन्धन दूराकृत्य
 तद्बालसार्भ गच्छित्वा तेषामागमनसमये पुन चरणाभ्या बन्धन
 मुखे मयो-रानिकुम्बुटेन क्षीणोदरो भूत्वा स्थित (३) । ततो
 नगरगतेन चतुष्पतिकुम्बुट दृष्ट यथा तत्र नगरे एकश्चौरस्तास्वि
 रूप धृत्वा वृद्धिद्वला च मस्तस्स्योपरि हस्ताभ्यामूर्ध्वं गृहीत्वा

नगरमध्ये दिवा रात्रौ चातिमुक्कुटेनापसरपाद ददामीति नन्द
 भ्रमति । “अपसरजीवेति” चामौ भक्तसर्वजनर्मण्यते । स च नन्द-
 दिविजनन्याने दिगबलोन कृत्वा सुरर्णभूषितमेराचिर्न अगमन्
 त्या शिलया मारयित्वा तद्द्रव्य गृह्णाति (४) इत्यन्तिमुक्कुटेनाप-
 चमालोम्य मया श्लोकोऽप कृत —

अचान्स्पशका नारी, ब्राह्मणस्तृणहिंसकः ॥

उने कष्टमुत्त पक्षी पुरेऽपमरणीवक् । ॥

इति कथयित्वा तजार धीरपिया स च्य ॥

स्विसमीप गवा तपस्विप्रतिचारकैर्निवारिन् ॥

तत्र पतित्वैरदेश स्थित । ते च प्रतिदन्द ॥

चरणदुक्वागुलपादिक तस्यास्त्रिसमीप ॥

परयति वृद्धद्रात्रौ गुडायामधकूपे ॥

स्नानपानादिक वाऽऽलोक्य प्रमाते ॥

तेन रात्रिदृष्टमावेच स शिष्यतगम् ॥

दिभि कदर्शमानो मृत्वा दुर्गति ॥

सा मे जननी भविष्यति । तनस्तस्या जारसनेतगृह्ण गत्या तां सेरित्वा
 तस्यामासको गूढवृत्त्या तथा सह कुकर्मरतः स्थित । एकदा तद्द्वार्याया
 असहनादतिरुष्टया रजक्या कथित । मम भर्ता निजमात्रा सह
 तिष्ठति । रजक्या च मालकारिण्या कथितम् । अतिविश्वस्ता माला-
 कारिणी च कनकमाला राजीनिमित्त पुष्पाणि गृह्णीत्वा गता । तया
 च पृष्टा सा कुतश्चलेन, जानासि हे कामप्यपूर्वा वार्ता । तथा तला
 रद्विष्टतत्र कथित रात्र्य, देवि ! यमदण्डतलारो निजजनया सह
 तिष्ठति । कनकमालया च रान कथित । राज्ञा गूढपुरुषद्वारेण तस्य
 कुकर्म निश्चिन्त्य तलारो गृह्णीतो दुर्गतिं गत, चतुर्थवनस्य ।

परिग्रहनिवृत्त्यभावात् रमश्रुनवनीतेन बहुतर दुःख प्राप्तम् । अथ कथा

अस्ति अयोध्यायां श्रेष्ठी भवदत्तो भार्या धनदत्ता पुत्रो ह्युभदत्तः
 वाणिज्येन दूरगतः, स्वमुपार्जित तस्य वीरैर्नीत । ततोऽतिनिर्धनेन
 तत्र तेन भार्या आगच्छता तत्रैकदा गोदुह तत्र पातु याचितम् तत्रै
 गीते स्तोत्रं नवनीत कूर्चे लग्नमालोक्य गृह्णीत्वा चिन्तित तेन वाणि-
 ज्य भविष्यत्यनेन मे, एव च तत्सचितम् । तत् स्वस्य रमश्रुनवनीत
 इति नाम जात । एवमेकदा प्रस्थप्रमाणे घृते जाते घृतस्य भाजन पादात्ते
 घृत्वा शीतकाले तृणकुटीरकद्वारे अग्निं च पादात्त कृत्वा रात्रौ सस्तरे
 पतित, सचित्तवति “अनेन घृतेन बहुतरमर्थमुमाज्यं सार्थं गहो भूत्वा
 सामन्तमहासामन्तराजधिराजपद प्राप्य क्रमेण सकलचक्रवर्ती
 भविष्यामि यदा तदा च मे सप्ततलप्रसादे गव्यागतस्य पादात्ते समु-
 पविष्ट वीरत्न पादौ मुष्टया गृह्णीष्यति “न जानासि पादमर्दन यत्न-
 मिति” स्नेहेन भणित्वा वीरत्नमेव पादेन ताडयिष्यामि, एव चित-

यित्वा तेन चक्रवर्तिरूपाविष्टेन पादेन हत्वा पातिन तद्वृत्तभाजन,
तेन च घृतेन द्वारसधुक्षितोऽग्निः सुवर्गं प्रप्यासित । ततो द्वारे
ञ्चलिते निस्सर्तुमशक्तो दग्धो मृतो दुर्गतिं गत* । इन्द्राप्रमाणरहित
स्य पञ्चमव्रतस्य ॥ ६५ ॥

अत्रय — धनश्री सत्यवोषी अपि च तापसा रक्षकौ तथा
रमश्रुनवनीत एते पचपापेभ्य यथा क्रमम् उपात्येयाः ॥

निरुक्ति — धनश्रीश्च सत्यवोषश्च इति धनश्रीसत्यवोषौ ।
तापमश्च श्रावक्षकरचेति तापसारक्षकौ । रमश्री नवनीतो यस्व स
रमश्रुनवनीत ॥ ६५ ॥


अर्थ—धनश्री सत्यवोष जीर तापम तथा फोटपाल
और रमश्रुनवनीत ये पाचों पापोंसे दुर्गतिको प्राप्त हुये
हैं जेमे उपाख्यान-उटाहरण इतिहासोंमें हैं ॥ ६५ ॥

यानि चेमानि पचाणुव्रतायुक्तानि मद्यादित्रयत्यागममविता-
यष्टौ मूलगुणा भवतीत्याह—

श्रावकोंके आठ मूलगुण होते हैं, उनके नाम बताते हैं।

मद्यमांसमधुत्यागौ , सहाणुव्रतपञ्चकम् ।

अष्टौ मूलगुणानाहुर्गृहिणा श्रमणोत्तमाः ॥६६॥

१-उपाख्यातुम् उदाहृतु आहतु योग्या उपात्येया उप आहृ-
पू। क ह्या प्रकथने धो 'योऽचोऽप्राग्मु' २।१।१०३ *ति य पुन
'इचो' ४।  इकारादेश 'गागया' १।२।६७ अनेन

गृहिणामष्टो मूलगुणानाहुः । के ते ? श्रमणोत्तमा जिना ।
 किं तत् ? अणुव्रतपञ्चकम् । के सह ? 'मद्यमासमधुल्यागैः' मद्य
 च मास च मधु च तेषां त्यागास्तै ॥ २० ॥

अथ-श्रमणोत्तमा गृहिणाम् अष्टौ मूलगुणान् आहुः,
 के ते प्रष्टा ? मद्यमासमधुल्यागै सह अणुव्रतपञ्चकम् ॥ ६६ ॥

निरुक्तिः-श्रमणेषु उत्तमा श्रमणोत्तमा । मद्य च मास च
 मधु च इति मद्यमासमधुनि । मद्यमासमधुना त्यागाः इति मद्यमास
 मधुल्यागा तै मद्यमासमधुल्यागै । अणुव्रताना पञ्चकम् इति अणुव्रत
 पञ्चकम् । मूलगुणा ये गुणा मूलगुणा ॥ ६६ ॥

अर्थ-गणधर देवोंने गृहस्थियोंके आठ मूलगुण
 बताये हैं । जोकि मद्यत्याग १ मासत्याग २ मधुत्याग ३
 अहिमा अणुव्रत ४ मद्य अणुव्रत ५ अचार्य अणुव्रत ६
 परस्त्रीत्याग ७ पत्निग्रह प्रमाण ८ हैं ॥ ६६ ॥

१-सदागत १।३ ३४ अनेन सम्य धे तृतीया ।

२-गञ्जानां सत्र समूहः पञ्चक । "म्येः मद्यसूत्राधीती" ३।४।६८
 "पञ्च दृशद् वग या" ३।४।७१ इत्यपतराम्या क ।

इति आत्मतत्त्वप्रसामिधिरचिते रत्नपरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने
 गौरीगणसिद्धातशास्त्रिणा निरुक्त्या पञ्जिकाया द्वि-दीमापाया च
 अणुव्रतव्रतानो नाम तृतीय परिच्छेद ॥३॥



सद्वृत्ते गुणव्रताधिकारः ।

एष पञ्चप्रकारमणुव्रत प्रतिपाद्येदानां त्रि प्रकार गुणव्रतप्रतिपाद्ये
गुणव्रतका लक्षण कहते हैं

दिग्ब्रतमनर्थदण्ड व्रत च भोगोपभोगपरिमाण
अनुबृहणाद्गुणानां माख्यन्ति गुणव्रतान्वयायाः

“आगच्छति” प्रतिपादयति । कानि च “गुणव्रत” ।
ते । “अर्था” गुणैर्गुणवद्वि र्था अयन्ते प्रथमः । स्वर्गलोकपर
देवादयः । । न तद्गुणव्रतः “दिग्ब्रत” निश्चितं । अने
देव किन्तु “अनर्थदण्डव्रत” चानर्थदण्डव्रत । तच्च “भोगोप
परिमाण” मष्टद् मुख्यत इति भोगोपभोगपरिमाणवद्वि । पुन
पुनरुपभुज्यत इत्युपभोगो वद्वि । अन्वयेनादि । पुन
तयो परिमाण कालनिषमन यावज्जीवन कालेन कस्मा-
द्गुणव्रतान्युच्यते “अनुबृहणात्” वद्वि । तेषां “गुण
नान् अष्टमूलगुणानाम् ॥ ६७ ॥

अन्वय - अथा दिग्ब्रतान् उपभोगोपभोगपरि
माण गुणव्रतानि आगच्छति, कस्माद्गुणव्रतानुबृहणात् ॥

निरुक्ति - दिग्ब्रतान् उपभोगोपभोगपरिमाण
प्रयोजना येभ्यस्त अनर्थ्याः । अनर्थदण्डव्रतानि अनर्थदण्डा । अन
र्थदण्डानां व्रतम् अनर्थदण्डव्रतम् । भोगोपभोगोपभोगो
गुणान् अनुबृहन्ति वर्धयते । गुणान् ॥ ६७ ॥

अथ-आचार्य भगवान् दिग्गत अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत इनको गुणव्रत कहते हैं । क्योंकि ये तीनों गुणोंको (अणुव्रतोंको चरित्रोंको) बढ़ाते हैं इससे इनको गुणव्रत कहते हैं ॥६७॥

तत्र दिग्गतस्वरूप प्रणयनाह—

दिग्गत गुणव्रतका लक्षण कहते हैं—

दिग्बलय परिगणित, कृत्वातोऽह बहिर्न यास्यामि
इति सकल्पो दिग्गत भामृत्यणुपापविनिवृत्त्ये ॥

‘दिग्गत भवति । कोऽसा ? ‘सकल्प’ । कथंभूत ? अह बहिर्न यास्यामात्यत्र रूप । किं कृत्वा ? ‘दिग्बलय परिगणित कृत्वा’ समर्थाद कृत्वा । कथं ? ‘आमृति’ मरणपर्यन्त यावत् । किमर्थम् ? ‘अणुपापविनिवृत्त्यै’ सूक्ष्मस्यापि पापस्य विनिवृत्त्यर्थम् ॥६८॥

अन्वय—इति सकल्प दिग्गत भवति । इतीति किम् ? “अह दिग्बलय परिगणित कृत्वा अत बहि न यस्यामि, कस्यै सिद्धयै ? अणुपापविनिवृत्त्यै । कथापर्यन्तम् ? आमृति ।

निरुक्ति—दिशा बलय दिग्बलय तम् दिग्बलयम् । अणु च यत् पाप अणुपाप अणुपापस्य विनिवृत्ति अणुपापविनिवृत्ति तस्यै पापविनिवृत्त्यै । मृते पर्यन्तम् इति आमृति ॥६८॥

अर्थ—इम प्रकार सकल्पकर प्रतिना करना सो दिग्गत है । किस प्रकार का सकल्प ? जो कि मैं जिशा समुद्रका

१-पार्श्वपादबहिर्न १।३।१० इति हस । अणुयोभात्र “हात्”
१।४ १६८ इति उप उप ।

परिमाण कर उसके बाहर न जाऊगा, किस सिद्धिके लिये
सूक्ष्मपापोंकी भी निर्वृत्तिके (दूर करनेके) लिये कबतक
जीवन पर्यंत ॥ ६८ ॥

तत्र दिग्बलयस्य परिगणितत्वे जानि मर्यादा इत्याह—

दिग्ब्रतकी मर्यादाओंको बताते हैं—

मकराकरसरिदटवी-

गिरिजनपदयोजनानि मर्यादाः ।

प्राहुर्दिशा दशाना, प्रतिसंहारे प्रसिद्धानि ॥६९॥

प्राहुर्मर्यादा । कानीत्याह—‘मकराकरे’त्यादि मकराकरश्च
समुद्रः, सरितश्च नद्यो गणाद्या, अटवी दडकारण्यादिका, गिरिश्च
पर्वतः सद्यवि-यादि, जनपदो देशो घराट वापीतटादि, योजनानि
विंशतित्रिंशतादिसंख्यानि । किं विशिष्टायेतानि ? प्रसिद्धानि दिग्ब्र-
रतिमर्यादानां दातुर्गृहीतुश्च प्रसिद्धानि । कासां मर्यादा ? दिशा ।
कतिसंख्यावच्छिन्नानां ? दशाना । कस्मिन् कर्तव्ये सति मर्यादा ?
प्रतिसंहारे इतः परतो न यास्यामीति व्यावृत्तौ ॥ ६९ ॥

अन्वय — दशाना दिशा प्रतिसंहारे मकराकर सरिदटवी
गिरिजनपदयोजनानि मर्यादा प्राहु कथंभूतानि तानि ? प्रसिद्धानि ॥

निरुक्ति — मकराकरश्च सरिश्च अटवी च गिरिश्च जनपदश्च

१-सरित् स्रोतस्विनो धुना मिधु, स्रजती निगगाऽपगा ।
नदी नद्यो द्विरेकश्च, सरि-नाम्नो तरगिणो ॥२५॥ इति भ्रनञ्जय
नाममाला ।

योजन च इति मकराक्षरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि ॥ ६९ ॥

अर्थ—(दशो दिशाओंके सकोचनमें) दिग्भ्रत करनेमें गणधरदेव समुद्र, नदी, उनी, पर्वत, देश और योजन इनको मर्यादा बताते हैं। कैसे है ये समुद्रादिक ? प्रसिद्ध हैं (जिनके नाम लोक प्रसिद्ध हो रहे हैं) ॥ ६९ ॥

एव दिग्भ्रतन्निव्रत धारयतां मर्यादात परत किं भवतीत्याह—
दिग्भ्रतसे अणुव्रतोंम क्या वृद्धि हाती है ऐसा बताते हैं

अवधेर्वहिरणुपाप,

प्रतिविरतेर्दिग्भ्रतानि धारयताम् ।

पञ्चमहाव्रतपरिणति मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥

अणुव्रतानि प्रपद्यते । काम ? पञ्चमहाव्रतपरिणतिम् । केया ? धारयताम् । कानि ? दिग्भ्रतानि । कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यन्ते ? अणुपाप प्रति विरते सूक्ष्ममपि पाप प्रति विरते व्यावृत्ते । क ? बहि । कस्मात् ? अन्वे वृत्तमर्यादाया ॥ ७० ॥

अन्वय — दिग्भ्रतानि धारयतां श्रावकानां अणुव्रतानि पञ्चमहाव्रत परिणतिं प्रपद्यते कस्मात् हेतो 'अन्वे' वैहि अणुपाप प्रति विरते ।

निरुक्ति — अणु च यत् पापम् अणुपाप । पञ्चाना महाव्रताना परिणति इति पञ्चमहाव्रतपरिणति ताम् ॥ ७० ॥

१-अन्वेत्यत्र निरुक्तिः श्रावकानाम् अणुव्रतानि पञ्चमहाव्रतपरिणतिं प्रपद्यन्ते इति । अन्वेत्यत्र निरुक्तिः अणुपाप प्रति विरते ।

२-अन्व 'नामो व्रत परिणति' श्रावक द्वितीया विभक्तौ

अर्थ-दिग्प्रत धारण करनेवाले श्रावकोंके अणुव्रत पच महाव्रतके परिणामको प्राप्त हो जाते हैं । किस हेतुसे ? जो कि की हुई मर्यादाओंके बाहर क्षेत्रमें सूक्ष्म भी हिंसा-दिक पापोंका त्याग हो जानेसे ॥७०॥

तथा तेषा तत्परिणताग्रमपि हेतुमाह -

दिग्गिरती आदि गुणप्रतोके धारण करने वाले श्रावकोंके अहिंसादिक व्रत महाव्रत क्यों नहीं कह जाते ? इस प्रश्नका उत्तर बताते हुए धारिका कहते हैं-

**प्रत्याख्यानतनुत्वा न्मन्दतराश्चरणमोहपरिणामा-
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥७१॥**

‘चरणमोहपरिणामा’ भावस्वरूपारचारित्रमोहपरिणतय । प्रकल्प्य ते उपचरति (“कल्पन्ते” उपचर्य ते) । विमर्षम् ? महा-वननिमित्तम् । रुधभूता सतः ? ‘सत्त्वेन दुरवधारा’ अस्तित्वेन महता कष्टनाशधार्यमाणा सतोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितु न शक्यत इत्यर्थः । युतश्चे दुरवधाराः ? ‘मन्दतरा’ अतिशयेनानुत्कटा । मन्दतरं नमप्येषा कुत ! ‘प्रत्याख्यानतनुत्वात्’ प्रत्याख्यानशब्देन प्रत्याख्यानान्तरणा । द्रव्यक्रोधानमायालोभा गृह्यन्ते, नामैकदेशे हि प्रवृत्ताः शब्दा नाम यपि वर्तन्ते भीमादिषु । प्रत्याख्यान हिंसाविरूपेण हिंसादिविरतिलक्षण सयमस्तदावृष्वति ये ते प्रत्याख्यानान्तरणा द्रव्यक्रोधादयः, यदुदये ह्यात्मा वात्पर्यात्तिदिरति कर्तुं न शक्नोति । द्रव्यरूपानां क्रोधादीनां तेषु

योजन च इति मकराकरसरिदटवीगिरिजनपदयोजनानि ॥ ६९ ॥

अर्थ—(दशो दिशाओंके सकोचनमें) दिग्भ्रत करनेमें गणधरदेव समुद्र, नदी, वनी, पर्वत, देश और योजन इनको मर्यादा बताते हैं। कैसे हैं ये समुद्रादिक ? प्रसिद्ध हैं (जिनके नाम लोक प्रसिद्ध हो रहे हैं) ॥ ६९ ॥

एव दिग्भ्रतनिवृत्त धारयता मर्यादात परत कि मयतीत्याह—
दिग्भ्रतसे अणुभ्रताम क्या वृद्धि हाती है ऐसा बताते हैं

अवधेर्वहिरणुपाप,

प्रतिविरतेर्दिग्भ्रतानि धारयताम् ।

पञ्चमहाव्रतपरिणति मणुव्रतानि प्रपद्यन्ते ॥ ७० ॥

अणुव्रतानि प्रपद्यते । काम ? पञ्चमहाव्रतपरिणतिम् । केवा ? धारयताम् । कानि ? दिग्भ्रतानि । कुतस्तत्परिणतिं प्रपद्यते ? अणुपाप प्रति विरते सूक्ष्ममपि पाप प्रति विरते - यावृत्ते । क ? बहि । कस्मात् ? अवध फलमर्यादाया ॥ ७० ॥

अवद्य - दिग्भ्रतानि धारयता श्रावमानां अणुव्रतानि पञ्चमहाव्रत परिणति प्रपद्यते कस्मात् हेतो अवध बहि अणुपाप प्रति विरते ।

निरुक्ति — अणु च यत् पापम् अणुपाप । पञ्चाना महाव्रताना परिणति इति पञ्चमहाव्रतपरिणति ताम् ॥ ७० ॥

१-अत्ररेख दिग्भ्रतान्याथाञ्चुद्व्याहातराराद्धियुके”
१।४।३३ अनेन पञ्चमी विभक्ता । प्रहिरिति श्चे योगात् ।

२- १” भागे चानु प्रतिपरिणा’ १।२।१२ द्वितीया विभक्तौ

अर्थ-दिग्गत धारण करनेवाले श्रावकोंके अणुव्रत पक्ष महाव्रतके परिणामको प्राप्त हो जाते हैं। किस हेतुसे ? जो कि की हुई मर्यादाओंके बाहर क्षेत्रमें सूक्ष्म भी हिंसा-दिक पापोंका त्याग ही जानेंसे ॥७०॥

तथा तथा तत्परिणतापरमपि हेतुमाह -

दिग्विपती आदि गुणव्रतोंके धारण करने वाले श्रावकोंके अहिंसादिक व्रत महाव्रत क्यों नहीं कहे जाते ? इस प्रश्नका उत्तर बताते हुए आरिका कहते हैं-

प्रत्याख्यानतनुत्वा न्यन्दतराश्चारणमोहपरिणामा
सत्त्वेन दुरवधारा, महाव्रताय प्रकल्पन्ते ॥७१॥

‘चरणमोहपरिणामा’ भावस्वरूपारचारणमोहपरिणतय । प्रकल्पते उपचरति (“प्रकल्पते” उपचरति ते) । निमर्षम् ? महाव्रतनिमित्तम् । कथमूता सत्त ? ‘सत्त्वेन दुरवधारा’ अस्तित्वेन महता कष्टेनावधार्यमाणा सत्तोऽपि तेऽस्तित्वेन लक्षयितुं न शक्यत इत्यर्थः । उतस्ते दुरवधारा, ? ‘मदतरा’ अतिशयेनानुकटा । मदतरामप्येषां कुत, । ‘प्रत्याख्यानतनुत्वात्’ प्रत्याख्यानशब्देन प्रत्याख्यानप्रणया । द्रव्यक्रोधानामायालोभा गृह्यते, नामैकदेशे हि प्रवृत्ता शब्दा नामयपि वर्तते भीमादिवत् । प्रत्याख्यानहिंसाविरूपेण हिंसादिविरतिलक्षण समयमस्नदावृत्तयति ये ते प्रत्याख्यानप्रणया द्रव्यक्रोधादयः, यद्दुदये आत्मा कात्स्न्यार्थात्तद्विरतिं वर्तुं न शक्नोति अतो द्रव्यरूपानां क्रोधादीनां तनुनामन्दोदयत्वाद्भावप्रणयां तथा मदतरस्य सिद्धम् ॥ ७१ ॥

अन्तर्य -प्रत्याख्यानतनुवात् चरणमोहपरिणामा मन्दतरा भवति । ते मात्रेण दुर्गवारा स त महाव्रताय प्रवृत्तये ॥

निरुक्ति -प्रत्याख्यानस्य तनुत्वं मृदुत्वं प्रत्याख्यान तनुत्वं, तस्मात् । चरणं मोहयति इति चरणमोह । चरणमोहस्य परिणामा इति चरणमोहपरिणामा । अतिशयेन मन्दा इति मन्दतरा । सतो भाव सत्त्वं तेन सत्त्वेन । दुःखेन कष्टेन वा अन्तर्याम्येति दुर्गवारा । महच्च व्रत महोन्नत तस्मै ॥

अर्थ प्रत्याख्यानानाचरण रूपायके मन्द परिणामन होनेसे चारित्र्य मोहनीय कर्मक परिणाम भी मन्दतर हो जाते हैं । वे "है" विद्यमान हैं ऐसा भी बड़ा कठिनतासे निश्चित किया जाता है । किंतु यही परिणाम महाव्रतोंको विकृत करते रहते हैं । उतम महाव्रतोंको पूर्णतः से निरन्तर

१-प्रत्याख्यान सफलचारित्र्यमाचरयति धाच्छादयतीति प्रत्याख्यानानाचरणमिति कपायवेदनोपविषल्यस्य नाम । तस्य "जोष" ४।३।२६ इत्यनेन आवरणपदस्य लप प्रत्याख्याम मिति पद भूयते । २-"द्विषिमज्जेतर" ४।१।१६१ इति तर त्य । ३-"भावे त्य तल्" ३।३।१३६ इति त्व त्य अस्तित्वेन इत्यर्ण, "प्रवृत्त्यादिभ्य" १।४।३३ इति भा । ४-अत्र "कृत्त्वर्धौर्निफारे" १।३।२६ अनेन कर्माणि प्रवृत्तयेति इति क्रियायोग 'अप्' विभक्तौ । प्रपणवात् कृपूड सामर्थ्ये इति धोः कतरि लट् भ -अने कृते शप् "गागयो" ५।२।६१ इति एप् तत कृपोदोलोऽष्टपादीनाम् "५।३।५" इति रेफस्य लकारादेश । प्रवृत्तये-विष्णुगते दूषयन्ति च ।

नहीं रहने देते । क्योंकि उनके प्रत्याख्यानप्रण 'कपायका उदय है औ' जबतक कि कपायवेदनीयकी तीसरी चौकड़ी नहीं नष्ट होगी तबतक महाव्रत नहीं प्रकट होते ऐसा सिद्धांत है ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—को हुइ मयादाश्रीके बाहिर क्षेत्रमें स्यावर प्राणियोंको हिंसा चोरी आदि पापकर्म तथा अपने निमित्तसे होनेवाली (होसकनेवाला) सब प्राणियोंकी विरोधो आरम्भो उग्रमो हिंसाके तथा सूक्ष्म चीरो आदि पाप प्रवृत्तियोंके परित्याग होनेसे इस गुणव्रतो ध्यावरके अणुगत म व्रतको पपाय को प्राप्त कर लेने हैं क्योंकि चारित्रमोहनोयके कपायवेदनायकी जो तीसरी चौकड़ा प्रत्याख्यात्पाय कर्म है उसके सूक्ष्म अशोकें क्षमोपशम होनेसे यह चारित्रमाहनोय प्रवृत्ति जो महाव्रतोंको घातक थी यह अपने फल प्रदान करोंमें मद् प्रवृत्तिवाली (अशुच निर्गल) हो जाती है कि उसका अस्तित्व (चिह्न) कठिनतासे जाना जा सकता है परच उम प्रत्याख्यान कपायका उदय उसके अवश्य रहता है इससे उसके परिणाम महाव्रतोंमें विकृतिको उत्पन्न करते रहने हैं । यह भाष 'महावृताय' इस पदमें एा हुई चतुर्थी विभक्ति का है । यह जैनेन्द्र ध्याकरणके १७१२६ सूत्रसे जाना जाता है । जो कि भगवान् ममत्तमद् स्वामोने ७१ मो कारिकामें भर दिया है । गुणव्रतो गृहस्थोंके मन वचन पाप योगके दृढ कारित ओर अनुमोत्नारूप मन भङ्गोंसे महाव्रत नहीं हो सकते, किन्तु महाव्रत तो तब मङ्गरूप गृहत्यागी दिगम्बर जिनशेखा धारक ऐसे महा-

पुरुषोंके हो होते हैं घेसा भाय ७२मी कारिषामे दिये हुये
“तु” शब्दसे ज्ञात कट्या है ।

मनु बुतरते महाव्रताय कल्प्यते न पुन साक्षा महाव्रतरूपा भवतीत्याह-
महाव्रतोंको धारण करनेवाले तो आगममे ऐसे बताये गये
हैं जोकि समस्त प्रका के बस्रादि परिग्रहोंके त्याग करने
वाले महत् पुरुष ही होसकते हैं ऐसा बतात हैं ।
अथवा वे दिग्भरत आदि महाव्रतोंको क्यों अव्यक्त
(विकृत) करते रहते हैं किंतु वे व्यक्त महाव्रती नहीं होते
ऐसा बताते हैं ।

पञ्चाना पापानां हिंसादीना मनोवच काये ।

कृतकारितानुमोदै स्त्यागस्तु महाव्रत महताम् ॥

“त्यागस्तु” पुनर्महाव्रत भवति । केषां त्याग “हिंसादीनां”
“पञ्चानां” । कथभूतानां : “पापानां” पापोपार्जनहेतुभूतानाम् ।
कैरतेषां त्याग : “मनोवच कायै । तैरपि के कृत्या त्याग “कृत
कारितानुमोदैः । अयमर्थ हिंसादीनां मनसा कृतकारितानुमोदै
स्त्याग । तथा वचसा कायेन चेति । केषां तैरत्यगो महाव्रत
“महताम्” प्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिना विशिष्टमनाम् ॥ ७० ॥

अन्वय — कृतकारितानुमोदै मनोवच कायै हिंसा-
दीनां पञ्चानां पापानां त्याग महाव्रत कल्पते । तत्तु महताम्पुरु-
षाणामेव भूयते ॥

निरुक्ति.—हिंसा आदौ येषां ते कृतश्च कारितश्च अनुमोदरचेति

कृतमारितानुमेदात् । मनस्य वधश्च फलयेति मनोवचं ज्ञया
 तैः । हिंसा आर्द्रा येषां तानि हिंसादीनि, तेषाम् । त्यजन परिषर्जन
 त्याग । महतां पुण्यपुरयासां व्रतमिति महाव्रतम् । मद्यन्ते पूजयन्ते
 इति मदान्त, तेषाम् । तुं इतिक्वि मङ्गलम् मदे वर्तने-वाक्य-नरे
 योनयति । तथा अन्धशरणेऽप्ये वतते । महतामेव जायते रथापते ।

अर्थ किये गये कराये गये और अनुमोदित किये
 ऐसे मनस या वचनसे तथा फलसे हिंसा-एक पापों पापों-
 का त्याग कर दना मा महाव्रत कहा जाता है । यह
 महान पुरुषोंके ही होता है । निबल भीरु जो नम्र आदि
 परीपहोंका नहीं मह सकते हैं, घर बृद्धुममे ममत्व नहीं
 छोड़ सकते उनके ये महाव्रत नहीं हा सकते । किंतु
 दिग्गिरि आदि गुग्गुलु गोरु पारण करनेमे व्रतोंम महत्व
 उन्नति वृद्धि अत्राप्य होनी है । ऐसा इन कारिकाओंका
 सम्बन्ध कर अर्थ बताया गया है ॥ ७७ ॥

इती निगिरिप्रस्थानिचानाह--

दिग्गिरि अतीचार वदते है

उर्ध्वाधत्त तिर्यग् यतिगान् । क्षेत्रवृद्धिग्वधीनाम् ।
 स्मरण दिग्गत-त्यागा पञ्च मन्यन्त । ७३ ॥

१-“आह महतो अतीये च” उद्धार-६ इति सूत्रेण महत्
 शब्द आकादेशः ७३-तु स्यात् अदेश्यपारणे

“दिग्विस्तेरत्याशाः” अतीचाराः “पञ्च मन्य तेऽम्बुपगम्यन्ते ।
तथा हि । अज्ञानात् प्रमादाद्वा ऊर्ध्वदिशोऽधस्तादिशस्तिर्यग्दिशश्च
व्यतीपाता विशेषणतिक्रमणानि त्रय । तथा अज्ञानात् प्रमादाद्वा
'क्षेत्रवृद्धि' क्षेत्राधिक्यावधारणम् । तथा 'अवधीनां' दिग्विस्ते
श्रुतमर्यादाना विस्मरणमिति ॥ ७३ ॥

अन्वय - दिग्विस्ते पञ्च अत्याशाः मन्यन्ते । के ते पञ्च ?
ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग् व्यतीपाता क्षेत्रवृद्धि च अवधीनां विस्मरणम् ।

निरुक्तिः—ऊर्ध्वश्च अधस्ताच्च तिर्यङ् च इति ऊर्ध्वाधस्तात्ति-
र्यञ्च तेषां व्यतीपाता ऊर्ध्वाधस्तात्तिर्यग् व्यतीपाता । क्षेत्राणां वृद्धि
क्षेत्रवृद्धि ॥ ७३ ॥

अर्थ - दिग्ब्रतके पाच अतीचार आचार्याने माने हे,
जो कि ऊपरकी मर्यादाका उल्लघन करना १, नीचेकी
मर्यादाका उल्लघन करना २, चारों तरफ्सी मर्यादाका
उल्लघन करना ३, क्षेत्रको बढा लेना ४ तथा मर्यादाओं-
को भूल जाना ५ ॥ ७३ ॥

१-अतिशयिता आशा तृष्णा इति अत्याशा । अथवा अधिको-
कृता आशा दिश येषु ते अत्याशा । इत्यसकारपाठे तु अत्य-
स्यते क्षिप्यते अत्यामा अति पूणक असु क्षेपणे घो घञ
अतीचारा इति यावत् । २-दिग्भ्यो रिकेभ्योऽस्तात् दिग्देश-
काले ४।१।३४ अनेन अवर शब्दात् “अस्तात्” त्य-पुन
“अस्ताति” ४।१।४७ इति च अधादेश । तिर अञ्चति प्राप्नोतीति

अनर्थदण्डव्रतका लक्षण कहते हैं—

अभ्यन्तरं दिगवधे रपार्थकेभ्य सपापयोगेभ्यः ।

विरमणमनर्थदण्ड व्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥७४॥

अनर्थदण्डव्रत विदुः जानति । के ते । 'व्रतधराग्रण्य' व्रतधराणा यतीना मये अग्रण्य, प्रधानमूता, तीर्थकरदेवादय । विरमण व्यावृत्ति । केभ्यः ? सपापयोगेभ्य पापेन सह योग सन्ध पापयोग तेन सह वर्तमानेभ्य पापोपदेशाधनर्थदण्डेभ्यः । किं विशिष्टेभ्यः ? अपार्थकेभ्य निष्प्रयोजनेभ्य । कय तेभ्यो विरमणः ? अभ्यन्तर दिगवधे दिगवधेरभ्यन्तर यथा भवत्येव तेभ्यो विरमणम् । अन एव दिग्विनिव्रतादस्य भेदः । तद्व्रते हि मर्यादातो बहिः पापोपदेशादिविरमणम् अनर्थदण्डविरतिव्रते तु ततोऽभ्यन्तरे तद्विरमणम् ।

अन्वय —व्रतधराग्रण्य दिगवधे अभ्यन्तरम् अपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्य, विरमणम् अनर्थदण्डव्रत विदुः ।

निरुक्ति —दिशाम् अरधि दिगवधि तस्य । व्रतानि धरति इति व्रतधरा, व्रतधरेषु अग्रण्य व्रतधराग्रण्य । पापयोगेन सह

१-अन्तरम् अभि मुख्यामति अभ्यन्तरम् "लक्षणेनाभिमुख्ये-
ऽभि प्रतो" १।३।११ इति हस, मध्ये इत्यर्थः । २-प्रत्ययार्पाद नि
प्रथादयोगत" १।३।८४ इत्यादिना सः "ततो नप्रोर्थात्"
४।३।१६१ इति कपत्य । ३-"अघमहश्च दुरित पाप्मा पाप च
किल्बिषम् । वृजिन कलिलमेनो दुष्टत तज्जयो जिन" इति

वर्तते ।ति सपापयोगा* तैम्प । अपगन अर्थो येम्पः ते अपा
र्थका तैम्प ॥ ७४ ॥

अर्थ-प्रतघान्गियोप जो अग्रणी तीर्थकर देव हैं वे
अवधिके मीतर भी जो पापवाले निरर्थक योग साधन
होते हैं उनसे विरक्त होना उमको अनर्थदण्डव्रत कहते हैं ॥

अथ के ते अनर्थदण्डा यतो विरमण स्यादित्याह--

अनर्थदण्डके मेद और नाम बताते हैं ।

पापोपदेशहिंसादानापध्यानदु श्रुती पञ्च ।

प्राहु प्रमादचर्या अनर्थदण्डानदण्डधराः ॥७५॥

दडा इव दण्डा अशुभमनोवाक्काया परपीडाकरत्यात्, तान्
धरति अदण्डधरा गणधरदेवादयस्ते प्राहु । वान् ? अनर्थदण्डान् ।
कति ? पच । कथमित्याह पापेत्यादि । पापोपदेशश्च हिंसादान च
अपध्यान च दुश्रुतिश्च एताश्चतस्रः प्रमादचर्या चेति पचमी ॥७५॥

अन्वय - अदण्डधरा अनर्थदण्डान् पञ्च प्राहु । के ते
पञ्च ? पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुः श्रुती च प्रमादचर्याम् ।

निरुक्ति - न दण्ड धरति ते अदण्डधरा । १ अर्थो येम्पः
ते अनर्था । अनर्थाश्च ते दण्डारच अनर्थदण्डाः, तान् अनर्थ
दण्डान् । पापोपदेशश्च हिंसादान च अपध्यान च दुश्रुतिश्च
इति पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतयः ता ॥७५॥

१-अत्र "कर्मणोप" शब्दात् अनेन कर्मकारके इप् षडुचने
"शस्ति" धा३।१०७ दीत्यम् ।

अथ - गणधरदेव अनर्थदण्डोंको पांच सरुपामें बताते हैं । कानमे वे पाच हैं ? पापापदेश, अपध्यान, 'हिंसादान' दुःश्रुति और प्रमादचर्या ॥ ७५ ॥

तत्र पापोपदेशस्य तावत् स्वल्प प्ररूपयन्नाह—

पापोपदेशका लक्षण कहते हैं—

तिर्यक्कृग्वणिज्या हिंमारम्भप्रलम्भनादीनाम् ।
कथाप्रसङ्गप्रसवः, स्मत्तव्य पापउपदेश ॥७६॥

स्मर्तव्यो ज्ञातव्यः । क ? पाप उपदेश पाप पापोपाङ्गनहेतु-
रुपदेश । कथ भूत 'कथाप्रसङ्ग' कथानां तिर्यक्कृश्लेशादिवा-
र्त्तानां प्रसङ्ग पुनः पुनः प्रवृत्ति । किं विशिष्टः ? प्रसव प्रसूत
इति प्रभव उत्पादक । केषामित्याह— 'तिर्यगित्यादि' तिर्यक्कृश्लेश
हस्तिदमनादि., वणिज्या च वणिजां कर्म क्रयविक्रयादि, हिंसा
च प्राणिवध, श्रारभरच कृष्यादि, प्रलम्भन च वचन तानि
आदिर्येषा मनुष्यक्लेशादीना तानि तथेक्तानि तेषाम् ॥ ७६ ॥

१-अनर्थदण्ड पचधाऽपध्यानपापोपदेशप्रमादाचरितहिंसाप्र-
दानाशुभश्रुतिभेदात् ॥ क्लेशतिर्यग्वाणिज्यावधकारमनादिषु
पापसयुत वचन पापोपदेश ॥ तद्यथा-अस्मिन् देशे दासा दास्यः
सुल्मास्तानमु देश नोरजा विक्रयवृत्ते महानर्गलामो भवतीति
हेशवणिजा । गोमहिष्याद्गोनमुत्र गृहोत्काऽन्यत्र देशे ध्यजहादे
वृत्ते भूरिविचलाम इति तिर्यग्वाणिज्या । चागुरिकसौकरिकशा-

अन्वयः—तिर्यक्क्लेशवणिज्या हिंसारम्भप्रलम्भनादीना प्रसवा
कथाप्रसंग पापउपदेश स्मर्तव्य ॥

निरुक्ति — तिरश्चाम् क्लेशो यस्यां सा तिर्यक्क्लेशा तिर्यक्ले
शा चासौ (वणिज्या) वणिज्या च इति तिर्यक्क्लेशवणिज्या । तिर्य
क्क्लेशवणिज्या च हिंसा च आरम्भश्च प्रलम्भश्च चेति तिर्य
क्क्लेशवणिज्याहिंसारम्भप्रलम्भनादयः तेषाम् । कथानाम् प्रसंग
कथाप्रसंग । पाप विद्यते यस्मिन् स पाप ॥ ७६ ॥

अर्थ—तिर्यकोको कष्ट (नाश) होवे ऐमा व्यापार
जिनसे हिंसा बढे जिनसे आरम्भ बढे तथा लोगोंको ठगा

बुद्धिकादिभ्यो मृग-घराह-शकुन्तप्रभृतयोऽमुष्मिन् देशे सतीति
घचन घघफोपदेश । आरम्भेभ्य कृषीयलादिभ्य क्षित्युद्ध-
ज्यलनपद्मनवनस्पत्याम्भोऽनेनोपायेन कटाव्य इत्याख्यानमार-
भफोपदेश । अमुकदेशे अनया रीत्या जना घञ्च्यन्ते अप्र चै-
विधो दग्धो विधेय , द्वित्रय एव प्रतापन्ते इति प्रकथन तिरिच्य-
न्ते पुस्तकचित्रादय प्रलम्भनोपदेश । इत्येष प्रकार पापसयुक्त
कथा पापोपदेश ।

१—'प्रसव कथाप्रसंग' इत्यादि पाठ । प्रसव इति
पृथक् पदम् । २-पापानि विद्यन्ते यत्र यस्मिन् वा स पाप ।
आऽन्नादिभ्य ४।१।६८ इति अत्य । व्यस्तपठम् । न तु उप-
देशः इति पदेन सह "वा" १।३।६ इति सूत्रेण मविधे विकल्प
स्याद् ७।४।८ (म) समास ।

जाय ऐसी बातोंका कथाओंमें (व्याख्यानोमें लेखोंमें)
प्रसंगका लाना प्रस्तानोंका करना) सो पापोदेश अनर्थ
दण्ड जानना ॥ ७६ ॥

अथ हिंसादान किमित्याह—

हिंसादान अनर्थदण्डना लक्षण कहते हैं ।

परशुकृपाणखनित्र ज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्खला-

दीनाम् ।

वधहेतूना दान, हिंसादान ब्रुवन्ति बुधाः ॥ ७७ ॥

‘हिंसादान ब्रुवन्ति’ । के ते ? ‘बुधा’ गणधरदेवादय किं
तत् ? ‘दान’ । यत्वेया ? ‘वधहेतूना’ हिंसाकारणानां । येषां तत्कार
रणानामित्याह—‘परशिव’त्यादि । परशुरच कृपाणरच खनित्र च
ज्वलनरचाऽऽयुधानि च क्षुरिकालकुटादीनि शृङ्गि च विष सामाय
शृङ्खला च ता आदयो येषां ते तयोक्तारस्तेषाम् ॥ ७७ ॥

अन्वय—वधहेतूना परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृङ्गिशृङ्ख
लादीना, बुधा हिंसादान ब्रुवन्ति ।

१ चिपञ्चखान्तिरज्जुवशादण्डादिहिंसोपकरणप्रदान हिंसा
प्रदानमित्युच्यते ॥ परेषा जयपराजयवधाऽऽङ्गच्छेदस्वहरणादि
कथ स्यादिति मनसा चिन्तनमपध्यान ॥ हिंसारागादिप्रसर्धि
तदुपकथाध्वजशिक्षणध्यातृतिरुमध्रतिरित्याख्यायते ॥

निरुक्ति - परशुश्च कृपाण च खनित्र च ज्वलन च आयुध
च शृगी च शृङ्खला च इति परशुकृपाणखनित्रज्वलनायुधशृगी
शृङ्खला । ता आदा येषां ते, तेषां तथा । वधस्य हेतव इति
वधहेतव तेषाम् ॥ ७७ ॥

अथ-मनुष्य तथा तिर्यचोकी हिंसाके सा एक (कारण)
परशु (फरसा) कृपाण, खनित्र (कुदारी फावडा) ज्वल-
नायुध (बंदूक तोप बम्बके गोले) अथवा ज्वलन (अग्नि)
आयुध (अस्त्र शस्त्र) शृङ्गी (विप) शृङ्खला (बेडी)
इत्यादिक हिंसाके माधक उपकरणोंके दानको बुद्धिमान
आचार्य हिंसादान कहते हैं ॥ ७७ ॥

इदानीमपधानस्य रूपं व्याख्यातुमाह -

अपध्यान अनर्धदण्डका लक्षणं वृत्ताते है ।

वधवन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादे ।

आध्यानमपध्यानं शामति जिनशासने विशदा ।

‘अपध्यानं शामति’ प्रतिपादयति । के ते ? ‘विशदा’ विच-
क्षणा । वध ? ‘जिनशासने’ । वि- तत् ? ‘आध्यान’ चि तन ।
कस्य ? ‘वधवन्धच्छेदादे । कस्मात् ? ‘द्वेषात्’ । न केवल द्वेषा
दपि तु रागाच्च अपध्यान । कस्य ? ‘परकलत्रादे’ ॥ ७८ ॥

१-संयते भवदायतेऽनेन इति खनित्रम् “तुघूसुखनर्तिसह-
चर” २-११७५ भवेत् करण इव त्य ।

अन्वय - जिनशामने विशदाः द्वेषात् च रागात् परकलत्रादेः
बधव्रच्छेदादे आश्रयानम् अपष्यान शासति ॥

निरुक्ति - बधरच व धरच छेदरच इति बधव्रच्छेदात्ते ।
आदौ यस्य स बधव्रच्छेदादि तस्य । परस्य अयस्य कलत्र
पत्नी इति परकलत्रम् । तत् परकलत्रम् आदौ यस्य स परकल-
त्रादि तस्य । जिनस्य शासन जिनशासनम्, तस्मिन् ॥ ७८ ॥

अर्थ—जिनागममें कुशल विद्वान् एमे आचार्य, द्वेष
से वा रागसे परस्त्री तथा परपुत्रादिकनका बन्ध माण,
छेदन आदि हो जावे ऐसे कुत्सित चिंतवन करनेको-मन्त्र
जपनेकोतन्त्र यन्त्र जपनको अपष्यान कहते हैं ॥७८॥

साम्प्रत दु श्रुतिस्वरूप प्ररूपयन्नाह—

दु श्रुति अनर्थदण्डका लक्षण वताते है ।

आरम्भमगमाहम मिथ्यात्वद्वेषरागमदमदनै ।
चेत कल्पयतां श्रुति रवधोना दु श्रुतिर्भवति ७९

१-शासु अनुशिष्टौ इति अदादेशो त्य । 'जक्षादि'
४।३।० इति न्य सन्नत्वात् 'प्याइत ५।३।३ अनेन अस्य अत्
आदेश । शासति उपदिशति इत्यर्थ ।

२-"भार्या जाया जनि कुल्या कलत्र गेहिनी गृहम् । महिग
मानिनो पत्नी तथा दारा पुरन्ध्रिय " इति धनञ्जय । कल्पयमिति
शब्द पत्नीयाचकोऽपि नपु सके वताते ।

'दुःश्रुतिर्भवति' । कासी 'श्रुति श्रवण । केपां 'अध्वीना' शास्त्राणा । किं कुर्यात् 'कलुषयतां मलिनयता । किं तत् 'चेत' क्रोध मागमायालोमाविष्ट चित्त कुर्यात् 'मिल्यते' । कै हृत्वेत्याह--'आरमे स्यात्' 'आरम्भरच कृत्वादि । सगरच परिग्रह । तयो प्रतिपादन वार्ता नीतौ विधीयते 'कृत्वि, पशुपादप वाणिज्य च वार्ता' इत्यभिधानात्, साहस चात्यद्भुत कर्म धीरकथायां प्रतिपाद्यते, मिथ्यात्व चाद्वैतशक्तिमिल्यादिप्रमाणविरुद्धार्थप्रतिपदकशास्त्रेण क्रियते, द्वे परच विद्वेषीकरणादिशास्त्रेणाभिधीयते, रागरच वशीकरणादिशास्त्रेण विधीयते, मदरच वर्णानां प्रादक्षो गुरुरित्यादिमथाज्ज्ञायते, मदनरच रतिगुणविलासपनाश्चादिशास्त्रादुत्पद्यते भवति, तै एतैः कृत्वा चेत 'कलुषयतां शास्त्राणा श्रुतिर्दुःश्रुतिर्भवति ॥ ७१ ॥

अन्यथ अध्वीनां श्रुति दुःश्रुति भवति । अथ भूतानां अध्वीनाम् आरम्भसगसाहसमिथ्यात्वद्वेपरागमदमदनैः चेत कलुषयताम् ।

निरुक्ति आरम्भरच सगरच साहसरच मिथ्यात्व च द्वेषश्च रागरच मदरच मदन च इति, तै । दृष्टा च असौ श्रुति दुःश्रुति ॥

१-अध्वीयने जिष्यते वस्ते अध्वय शास्त्राणि तेषाम् ।

२-कद्रुप कुपतीति कद्रुययति 'मृदो ध्वर्धे णिज बहुगम्' २।१।२८ इति णिच् 'तद्ता धव' २।१।४४ इति धु सञ्ज्ञा तत् शनृ न्य पुन 'ताशेषे' १।३।६८ धनेन नाम विभक्तौ ।

३-शृण्वति अनयेति श्रुति 'धृन्स्त्रिय यज ऋणे' २।३।८२-अनेन ऋणकारकेति ।

अर्थ—ऐसे शास्त्रोंके सुननेको दुःश्रुति, अनर्थदण्ड कहते हैं (कैसे हैं शास्त्र ?) जो आरम्भ सग साहस मिथ्यात्व द्वेष राग मद और मदन (काम) इनके कथन कर चित्तको कलुषित करनेवाले हों ॥ ७९ ॥

अधुना प्रमादचर्यास्वरूप निरूपयन्नाह -

प्रमादचर्या अनर्थदण्डका लक्षण बताते हैं—

क्षितिसलिलदहनपवना-रम्भ विफल वनस्पतिच्छेदं
सरण सारणमपि च, प्रमादचर्या प्रभापन्ते । ८० ।

‘प्रभापन्ते’ प्रतिपादयति । कां ? प्रमादचर्याम् । किं तद्वि-
त्याह ‘क्षितीत्यादि । क्षितिश्च सलिल च दहनश्च पवनश्च तेषामा-
रम्भ क्षितिग्वनन सलिलप्रनेपण दहनप्रज्वालनपवनकरणलक्षणम् ।
किं विशिष्टं ? ‘विफल’ निश्चयोजन । तथा ‘वनस्पतिच्छेद’ विफ-
ल । न केवलमेतदेव किन्तु, ‘सरण’ ‘सारणमपि च’ सरण श्रय नि-
श्चयोजन पर्यटन, सारणमयस्य निश्चयोजन गमनप्रेरणम् ॥ ७९ ॥

अन्वय — आचार्या विफल क्षितिसलिलदहनपवनारम्भ
प्रमादचर्या प्रभापन्ते, आचार्या विफल वनस्पतिच्छेद प्रमादचर्या
प्रभापन्ते, आचार्या विफल सरण प्रमादचर्या प्रभापन्ते, आचार्या
विफल सारण प्रमादचर्या प्रभापन्ते ॥

निष्क्ति क्षितिश्च सलिल च दहन च पवन च इति

१-प्रयोजनमन्तरेणापि पृक्षादिच्छेदा-भूमिदुष्टन-सलिलसे-

क्षिनिसलिलदहनपवनानि । तेषाम् आरम्भ इति क्षिनिसलिलदहन
पवनारम्भ* तम् । प्रमादस्य चर्षा प्रमादचर्षा ताम् वनस्पतीनां छेद
वनस्पतिच्छेद, तम् ॥ ८० ॥

अर्थ—आचाय, निष्फल क्षिने आरम्भ, मलिला
रम्भ, दहनारम्भ, पवनारम्भको प्रमादचर्षा कहते हैं तथा
व्यर्थ वनस्पतिके छेदनेको तथा निष्फल गगन करनेको
निष्फल चलानेको प्रमादचर्षा कहते हैं ॥ ८० ॥

एवमनर्थदण्डविरतिप्रत प्रतिपाद्ये*नीं तस्यातीचारानाह,—
अनथदण्डप्रतके अतीचार कहते हैं

वन्दर्षं कौत्कुच्य मोग्र्यमनिप्रसाधनं पञ्च ।

असनीक्ष्य चाधिकरण, व्यतीतयोऽनर्थदण्ड-

कृद्धिते ॥ ८१ ॥

व्यतीतयोऽनीचारा भवति । यस्य * अनर्थदण्डकृद्धिगे
अनर्थ निप्रयोजन दण्ड दोष कुर्वतीत्यनथदण्ड*न पापापदेश दण
स्तेषां विरतिर्यस्य तस्य । कति * पञ्च । कथमित्याह * दण्डादि,

१-चदाते इति चया चर गतिभक्षणयोः धाः चरे २।१।२०७
इति य त्य । स्त्रीत्वे टाप । अथवा चरसुर्दा " २।१।६७ अत्र
सूत्रे परी इत्यस्य अनुसूचोरविविशित्वपक्षे य त्य ।

२-छे च ४।३।६६ इति तुगागमाः, स्तो श्चुना श्चु ५।३।१३८
च तस्य चकारादेश ।

रागोद्रेकाग्रहासुमिश्रो भण्डमाप्रधानो वचनप्रयोग वदर्यः । प्रहासो
भण्डमावचन, भडिमोपेतत्रायव्यापारप्रयुक्त कौतुक्य, धाष्टर्यप्राय
बहुप्रलपित्व मौखर्यं, यावनार्थेनोपभोगोपरिमोगी भयनस्ततोऽधिकस्य
करणमतिप्रसाधनम् । एतानि चत्वारि अस्मीदद्याधिररण पञ्चनम्
अस्मीदद्य प्रयोजनमपर्यालोभ्य आधिक्येन कायस्य करणमस्मीदद्या-
धिकरणम् ॥८१॥

अन्य — अनर्थदण्डवृद्धिरति पञ्च व्यतीतय वक्ष्यते ।
के ते पञ्च ? वदर्यं कौतुक्यं मौखर्यम् अतिप्रसाधनं च अस्मीदद्य
अधिकरणम् ।

निरुक्ति — वम् । इति किं] कुत्सितोदर्यं वदर्यं । मुख-
रस्य कर्म भावो वा मौखर्यं वाचालता । अनर्थे व्यर्था दण्डो दण्डन
मिति अनर्थदण्ड । त करोति विटधार्तीति अनर्थदण्डवृत् । अत्र
'विष्णु' २।२।७४ इति विष्णु तु ग गमश्च । तस्माद्विरति त्यागो यस्य
स अनर्थदण्डवृद्धिरति तस्य तथा । न समीदद्य विचार्यंति अत्र
मीदद्य । अधिकं करणम् अधिककरणम् अधिवार ॥ ८१ ॥

अर्थ—अनर्थदण्ड विरतिके पात्र अतीचार कहे हैं ।
कोनसे हैं वे पात्र ? रुद्रप (रागकी प्रचलतासे प्रहास्य
मिश्रित भट्ट वचनोंका बोलना) १, कौतुक्य (हास्य
और भट्ट वचन सहित कायमे कुत्सित चेष्टा करना)
२ मौखर्य (घीटतासे ज्यादा बकवाद करना) ३ अति-

रसना) ४ अममीक्ष्य अधिकरण (विना विचारे काम
करना अथवा किसी वस्तुपर अधिकार कर लेना)
५ ॥ ८१ ॥

साम्प्रत भोगोपभोगपरिमाणलक्षणं गुणव्रतमाप्त्यातुमाह—

भोगोपभोगपरिमाणव्रतं गुणव्रतका लक्षणं कर्तव्यं—
अक्षार्थानां परिसंख्यानं भोगोपभोगपरिमाणम्
अर्थवत्तामप्यवधौ, रागरतीनां तनूकृतये ॥८२॥

भोगोपभोगपरिमाणं भवति । किं तत् ? 'यत्परिसंख्यानं'
परिगणनं । केयाम् ? 'अक्षार्थानां' मिन्द्रियविषयाणां । कथंभूतानां
मपि तेषां । अर्थवत्तामपि सुखादिबलक्षणप्रयोजनसंपादकानामपि
अथवाऽर्थवत्तां संप्रदानामपि श्रायकाणाम् । तेषां परि-
संख्यानं किमर्थं ? 'तनूकृतये' वृशानरत्नपरणार्थम् । कासां ?
'रागरतीनां' रागेण विषयेषु रागोद्रेकेषु रतय आसक्त्यस्तासाम् ।
कर्त्तव्यं सति ? अवधौ त्रिषुपरिमाणे ॥ ८२ ॥

अन्वय —अत्रर्था अपि अर्थवत्ताम् अक्षार्थानां परिसंख्यानं,
भोगोपभोगपरिमाणं भवति । कस्य सिद्धये ? रागरतीनां तनूकृतये ।

निरुक्ति —अक्षार्थानाम् अर्था अक्षार्था तेषां अक्षार्थानाम् ।
भोगश्च उपभोगश्च भोगोपभोगी, भोगोपभोगयो परिमाणम् इति भो-
गोपभोगपरिमाणम् । अर्थ-प्रयोजन विद्यते येषु ते अर्थवत् त. तेषां
१. रागेण रतय इति रागरतय तासां रागरतीनाम् । अतनु

तनु- क्रियते इतिःतनूकृति । 'कृन्वस्तिभ्योगेऽनत्तत्वे सप्तत्ति चि' ४।२।६७ इति चि. । तस्य च खम् ।, "दीरञ्चकृद्गे' ५।२। १४८ इति दीत्वम् । तस्यै तथा सूदमकरणाय इत्यर्थ ॥ ८२ ॥

अर्थ-दिग्ब्रतकी मर्यादाके भीतर भी प्रयोजन भूत इन्द्रियोंके विषयोंकी मर्यादा का लेना-गिनती कर लेना सो भोगोपभोग परिमाण ब्रत है । किमकी सिद्धिके लिये! विषयोंमें रागभावका उद्रेक होनेसे जो अधिक आशक्ति होती है उसको घटानेके लिये-कम करनेके लिये ॥८२॥

अथ को भोग वरचोभोगो यत्परिमाणं क्रियते इत्याशङ्क्याह—

'भोग वस्तु कया है' उपभोग वस्तु कया है' जिनका परिमाण क्रिया जावे' इसका उत्तर कहते हैं ।

भुक्त्वा परिहातव्यो, भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य-
उपभोगोऽशनवसन प्रभृति पाञ्चेन्द्रियो विषय ।

'पचेद्दियाणामथ' पाञ्चेन्द्रियः विषय । 'भुक्त्वा परिहातव्य'-
स्ताय* स भोगोऽशनपुष्पग धविलेपनप्रभृति । य एवं भुक्त्वा पु-
नश्च भोक्तव्य स उपभोगो वसनाभरणप्रभृति, वसन वस्त्रम् ॥

अन्वय -य पाञ्चेन्द्रिय विषय भुक्त्वा परिहातव्यः स
भोग भवति । तथा यः पाञ्चेन्द्रियविषय भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्यः
भवति स. उपभोग* भवति । यथा अशनवसनप्रभृति ॥

१- -लोहाक् त्पाने घो भुजो रक्षाशनयो, माम्याम् "तव्या-
नीयी" २।१।१०२ इति तथ्य ।

निरुक्तिः—परिहातुं योग्य परिहातव्य । भोक्तुं योग्य भोक्तव्य । अशनं च वसनं च अशनवसने । अशनवसने प्रभृति यस्य स अशनवसनप्रभृतिः । पञ्चेन्द्रियानाम् अर्थं पाञ्चेन्द्रियः ॥
 अर्थ—जो पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंको भोगकर छोड़ दिये जाय पुन वही वस्तु दूसरी बार भोगी न जाय सो भोग है । और जो पाँचों इन्द्रियोंके विषय भोगकर वही वस्तु बार बार भोगनेमें आवे सो उपभोग है । जैसे अन्न पान आदि भोग और वस्त्र भूषण आदि उपभोग हैं ॥ ८३ ॥
 मद्यादिभोगरूपोऽपि असज्जत्तुव हेतुत्वादणुव्रतधारिभिस्त्याज्य इत्याह । अणुव्रतियोंको जो भोग वस्तु यावज्जीव ही त्यागने योग्य है उनके नाम बताते हैं -

१—भोगसध्यान पद्यविधं असघातप्रमादबहुवधाऽनिष्टानुप-
 सेष्यविषयभेदात् ।

१ मधुमांस सश परिहतव्य असघातं प्रतिनिवृत्तचेतसा ।
 २—मद्यगुप्तेष्व्यमान कायाकायविवेकसगमोहकरमिति तद्व्रज
 प्रमादविरहाय अनुष्ठेयम् । ३—केतपयज्जुनपुष्पादीनिमज्जत्तुवो-
 नित्प्रतानि शृङ्गैरमूलकहरिद्रानिम्बकुसुमादीन्यतश्चायव्यपदे
 शार्होण एतेषामुपसेवने बहुघातोऽप्यफलमिति तत्परिहारः
 धेयान् । ४—शातवाहनभरणादिषु एतावदेवेष्टमतोऽभ्यर्शनैः
 मित्यनिटानिनर्तनं कर्तव्यम् । ५—न ह्यसति अभिसन्धिनियमे
 व्रतमिताष्टानामपि चित्तपत्रविश्रुतवेशाभरणादीनामनुपसेष्याना
 कार्यम् । इति श्रीचामुण्डरायवृत्तचारित्रसारः ।

त्रसहतिपरिहरणार्थं, क्षौद्रं पिशितं प्रमादपरिहृतये
मद्यं च वर्जनीयं, जिनचरणौ शरणमुपयाते ८४

वर्जनीयम् । किं तत् ? 'क्षौद्रं' मद्यु । तथा 'पिशितं' । किमर्थं ?
'त्रसहतिपरिहरणार्थं' त्रसानां द्वीन्द्रयादीनां हतिर्वधरतत्परिहरणार्थम् ।
तथा 'मद्यं च वर्जनीयं' । किमर्थं ? 'प्रमादपरिहृतये' माता भार्येति
विनेकाऽभाव प्रमाद तस्य परिहृतये परिहरणार्थं । कैरेतद्वर्ज-
नीयम् ? शरणमुपयाते शरणमुपगते । की ? जिनचरणौ,
आयकस्तस्याग्रमिदर्थे ॥ ८४ ॥

अन्वय - जिनचरणौ शरणमुपयाते पुरुषे त्रसहतिपरिहर-
णार्थम् अर्द्धं पिशितं वर्जनीयम् । च प्रमादपरिहृतये मद्यं वर्जनीयम् ।

निरुक्ति - त्रसानां हते परिहरणमिति त्रसहतिपरिहरणम् ।
त्रसहतिपरिहरणाय इति त्रसहतिपरिहरणार्थम् । प्रमादस्य परि-
हृति प्रमादपरिहृति तस्यै प्रमादपरिहृतये । जिनस्य चरणौ जिन-
चरणौ ॥ ८४ ॥

१- 'अस्य वा कतरि' १।३।८३ "कतृ" करणे" १।४।३२
आभ्या कटारिकारके भा (द्वितीया) विभक्ती ।

२- अप्रकृति तदर्थार्थादिभि १ ३।३१ इति पसः समासः १।३

३- 'सादर्थ्ये' १।५।२५ इत्यपु विभक्ती ।

४- उप पूर्वक या प्रापणे धेः 'द्वि' फर्गकात् धिन्त्यर्थान्त्व
२।५।५५ इनेन कटारि च । अतः फर्गकारके द्वितीया द्विपचनम्
कारणमित्यापि ॥

अर्थ—जिनेश्वर भगवानके दोनों चरणोंका शरण, लेने वाले श्रावक ब्रह्म जीवोंकी हिंसाका परित्याग करनेके लिये मधु और मांसको छोड़, और ममाद दूर करनेके लिये मद्य पीना छोड़े ॥ ८४ ॥

तथैतदपि तैस्त्याग्यमित्याह—

तथा इनको भी यावज्जीव त्यागे ऐसा बताते हैं—
अल्पफलबहुविघातान्मूलकमाद्राणि शृङ्गवेराणि
नवनीतनिम्बकुसुम, कैतकमित्येवमवहेयम् । ८५ ।

अवहेयम् त्याग्य । किं तत् ? 'मूलक' । तथा 'शृङ्गवेराणि'-
भार्द्रकाणि । किं विशिष्टानि ? 'अद्राणि, अशुष्कानि (अपक्वानि) तथा 'नवनीतनिम्बकुसुममित्युपलक्षण सकलकुसुमविशेषाणां, तेषां, कैतक केतक्या इदं कैतकम् गुधरा इत्येव, इत्यादि सवमवहेयम् कस्मात् 'अल्पफलबहुविघातात्' अल्प फल यस्यासावल्पफल, बहूनां ब्रह्मजीवानां विघातो विनाशो बहुविघातः, अल्पफलश्चासौ विघातश्च तस्मात् ॥ ८५ ॥

अन्वय—अल्पफलबहुविघाताद् मूलक च आद्राणि शृङ्गवेराणि च नवनीतनिम्बकुसुमम् अपि कैतकम् इति एव अवहेयम् ।

निरुक्ति—अल्प फल यस्मिन् यस्माद्वा स अल्पफलः । बहूनां विघात यत्र स बहुविघातः, अल्पफलश्चासौ बहुविघात इति

१—'भार्द्रकं शृङ्गवेरं स्यात्' इत्यमर । शृङ्गमिव वेरं शरीरमस्य

अल्पफलवृद्धिर्विधति तस्मात् अल्पफलवृद्धिर्विधातात् । नवनीत च
निम्बकुसुम च धनयोः समाहार नवनीतनिम्बकुसुमम् ॥८५॥

अर्थ—जिममें लाम थोड़ा और बहुत प्राणियोंका
घात होवे ऐसे मूली तथा गीले अदरकका और मक्खन
नीमक फूलोंको तथा केवड़े आदिके फूलोंका त्याग करे,
न खावे ॥८५॥

प्राप्तुमपि यदेवनिध तस्याप्यमित्याह—

प्राप्तुम मी है तो मी इनका त्याग करे ।

यद्दनिष्ट तद्व्रतयेद्, यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्
अभिसन्निभृता विरति विरयाद्योग्यद्रित भवति

'यदनिष्टम्' उदरशूलनिहेतुतया प्रवृत्तिसात्परं यन्न भवति
'तद्व्रतयेत्' अत्र निवृत्तिं कुर्यात् त्यजेदित्यर्थ । न केवलमेतदेव
व्रतयदपि तु 'यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात्' यच्च यदपि गोमूत्र-करेणु-
'दुग्धे शल्लचूर्णे-ताम्बूतोद्दले लाला मूत्र-पुराप-श्लेष्मादिकमनुपसेव्य-
प्राप्तुमपि शिष्टलोकानां स्वादनायोग्य एतदपि जह्यात् व्रत कुर्यात्,

हे आद्र कस्य नामनो । आद्रं सार्द्रं ह्यन्नं तिमितं स्तिमितं
संमुन्नमुत्तं च इत्यमरः, आद्राणि चिठन्नानि । गाला अदरक ।
यहांपर शृङ्गवर अदरकका नाम कहा है और उसका आद्र विशेष-
बण है इससे गीले (हरे) अदरकका त्याग कराया है । उपलक्षण
से गीलो इन्द्रो आदि भी अजाय है ।

ए । कुत्र एतदित्याह—'अभिसंधीत्यादि' अनिष्टया अनुपसेव्य-
 तथा त्वं व्यावृत्तेर्योग्यादिपदादभिसंधिवृत्त्याऽभिप्रायपूर्विकाया वि-
 रतिः सा यतो मतं भवति ॥ ८६ ॥

अन्वयः—यत् अनिष्टं तत् मनयेत् यत् च अनुपसेव्यं
 तत् अपि जह्येत् योग्यं तत्रिययात् अभिसंधिवृत्त्या विरति
 मतं भवति ॥ ८६ ॥

निरुक्तिः—न इष्टं अनिष्टं । न उपसेव्यं अनुपसेव्यं ।
 अभिसंध्या अभिसंधानेन अभिप्रायेण उद्देश्येन कृता अभिसंधिवृत्त्या ॥

अर्थ—जो वस्तु अपनेको अनिष्ट अथवा है रोगादिक
 बढ़ानेवाली है उसको त्याग देना चाहिये । जो अनुप-
 सेव्य है वह भी छोड़ना चाहिये क्योंकि योग्य विषयोंका
 अभिप्राय पूर्वक त्याग करना सो मत है ॥ ८६ ॥

तत्र द्विधा भिद्यत इति—

ब्रह्म भोगोपभोगसहस्र द्वौ प्रकारका है एमां ब्रताते हैं—
 नियमो यमश्च विहितौ द्वेषा भोगोपभोगसहस्रत्
 नियमं परिमितकालो, यावज्जीवं यमो ध्रियते ।

भोगोपभोगसहस्रात् भोगोपभोगयो सहस्रात् परिगणत्,
 तस्माद्विभ्य ।—द्वेषा विहितौ द्वाभ्यां प्रसाराभ्यां द्वेषा व्यवस्थापितौ ।

१—भोहाकृत्वाणी द्वादिः यो "विधितिमन्त्रज्यासुरज्याधोद
 कं प्रसृज्यादिति लिङ्" ४३१५२ इति (विधौ लिङ्) । १५ लिङ्बुवं

" ४३१५२ इति वित्प्रसृज्यात् द्वयजेदित्यर्थात् ॥ १५८१६

कौः नियमो यमश्चेत्येतौ । तत्र को नियमः, यश्च यम इत्याह--नियम परिमितकालो वक्ष्यमाण परिमितः कालो यस्य भोगोपभोगसंहारस्य स नियमः । यश्च यावज्जीवं ध्रियते ।

अन्वय भोगोपभोगसंहारे नियमश्च यमं द्वेषा विहितौ, यत्र यः परिमितकालं ध्रियते स नियमः । यश्च यावज्जीवं ध्रियते, यमः यम भवति ॥ ८७ ॥

निरुक्ति - भोगश्च उपभोगश्च इति भोगोपभोगौ भोगोपभोगयोः संहार इति भोगोपभोगसंहारः तस्मिन् भोगोपभोगसंहारे परिमितः संख्यातः कालो यस्य सः परिमितकालः । शीघ्रनपर्वतम् इति यावन् जीवतीति वा यावज्जीवम् ॥ ८७ ॥

अर्थ-भोग और उपभोगके न्यून करनेके लिये (निमित्त) यम और नियम ऐसी दो विधि होती हैं। तिनमें जो परिमित कालकी विधि है वह नियम है और यावज्जीवकी विधि है वह यम है ॥ ८७ ॥

१-नियच्छति उपरमति अनेन, नियमन वा नियम । यम उपरमे निपूर्यात् "यमः सम्निष्युषे च" । २।३।६६ इति भृत्त्यः ।

२-तद्यैव वक्ष्यति उपरमति धनेन यमनं यो यमे ।

३-यमानमस्य यावान् "यस्य" ३।३।२०६ इति मानार्थं यद् मृदुः चतुःस्थः । यावान् जीवतीति यावज्जीवम् "यावन्ति जीवन्ति" २।३।१४ इति ऋत्त्यः । तच्च निरुक्ता ।

४-अत्र हेतौ तद्युक्ते ३।३।२६ इति सन्तरो विमर्शो ३।३।२६

तत्र परिमितकाले तत्सहारंलक्षणनियम दर्शयन्नाह—
नियमकी विधि बताते हैं—

भोजनवाहनशयन स्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु ।
ताम्बूलवसनभूषण मन्मथमगीतगीतेषु ॥८८॥
अद्य दिवा रजनी वा, पक्षो मासस्तथर्तुरयनं वा
इति षालपरिच्छित्या, प्रत्याख्यानं भवन्नियम ।

युगल । नियमो भवेत् । कितव प्रत्याख्यान । कथा
षालपरिच्छित्या । तामेव षालपरिच्छिति दर्शयन्नाह—‘अपेत्यादि’
अपेति प्रवर्तमानघटिकाप्रहरादिलक्षणकालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानम्
तथा दिवेति रजनी रात्रिरिति वा । पक्ष इति वा । मास इति
वा । ऋत्निति वा मासद्वय । अयनमिति वा पयमासा । इत्येव
षालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानम् । केचित्त्याह—‘भोजनेत्यादि’ भोजन
च, वाहन च घोटकादि, शयन च पर्यङ्कादि, स्नान च, पवित्रा
ङ्गरागच पवित्ररचासावङ्गरागच कुसुमादिविज्ञेयनम् । उपल-
क्षणमेतन्मन्मथमगीतगीतानां परित्रविशेषण । दोषापनदनार्थं तेनैष-
घाषङ्गरागो, निरस्त । कुसुमानि च तेषु विषयभूतेषु । तथा
ताम्बूल च वसन च वस्त्र, भूषण च कटकादि, मन्मथरच कामसेवा,
सगीत च गीतनृत्यवादिश्रवण, गीत च केयस नृत्तवाद्यरहितम् ।
तेषु च विषयेषु अपेत्यादिरूप षालपरिच्छित्या प्रत्याख्यानं स
इति व्याख्यातम् ॥ ८८-८९ ॥

१. अन्वय. — इति कालपरिच्छित्या (भोजनवाहनशयनस्नान-
पत्रिाङ्गरागकुसुमेषु ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु) प्रथिा-
स्यान नियमः भवेत् । इतीति किम् ? अथ दिवा रजनी वा पक्ष
मासः, तथा ऋतु वा क्षयनम् ।

२. निरुक्ति भोजनं च वाहनं च शयनं च स्नानं च पत्रिाङ्गरा-
गिरच कुसुमं च इति भोजनवाहनशयनस्नानपत्रिाङ्गरागकुसुमा-
नि, तेषु तथा । ताम्बूलं च वसनं च भूषणं च मन्मथं च संगीतं च
गते चेति ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतानि तेषु तथा ॥८९॥

अर्थ—इम प्रकार कालका (ममयौका) प्रमाण कर भोजन
(भोज्य वस्तुओंका) १, वाहन (रथ घोड़ा पालकी आदि
सवारी) २, शयन (ग्राट पलंग गद्दा तकिया तौपफ
रजाई आदि) ३, स्नान (गर्म जल या इतना जल-चोकी
आदि साधन) ४, पत्रिाङ्गराग (उबटना सायन तेल अतर
फुलैल आदि-सुगन्ध/वस्तुओंका लगाना आदि) ५, कुसुम
(पुष्पमाला सेहरा पहनना गुलदस्ताका ग्रहण करना आदि)
६, ताम्बूल (पान् इलाइची जात्रिनी आदि सुगन्ध सुस्वादु
वस्तुओंका जो भोजनके अनन्तर खाई जाती है) ७, वसन
(वस्त्र घोठी चादर रेशमी छती तथा उपानन् पाग टोपी
अंगरखा आदि शिरोपाव) ८, भूषण (सगडी बाजू कक्कण
कुण्डल मुट्टट हार मुद्रिका सुवर्णमयी वा रत्नजडित आदि)
९, मन्मथ (स्त्री भोग) १०, संगीत (नृत्य वाजा
सहित रागोंका सुनना, नाटक देखना

दृश्योक्ता देखना आदि) ११, गीत (स्त्रियोंके गीत-वसन्त राग पारगुमामा आदि) १२, इनका प्रात्याख्यान (त्याग करना) भी भोगोपभोग नियम है । कौनसे कालोंमें प्रात्याख्यान करे ? आजका दिनमें या रात्रिमें पक्षमरका (पन्द्रह दिनका) महिने दो-महीनेका-षमन्त ऋतुका-सरद ऋतु आदि ऋतुओंका--उत्तरायण छमाहीका, दक्षिणायन छमाही का तथा वर्ष दो वर्ष आदि कालका । भावार्थ-घड़ी दो घड़ी आदि समयका प्रमाण कर इन भोजनादिक १२ भोग्य उपभोग्य चीजोंका त्यागना सो नियम है ॥ ८८-८९ ॥

भोगोपभोगपरिमाणस्येदानीमतीचाराणाह-

भोगोपभोगपरिमाण प्रतके अतीचार कहते हैं-

विषयविपतोऽनुपेक्षा-

नुस्मृतिरतिलौल्यप्रतितृषाऽनुभवौ ।

भोगोपभोगपरिमा-

व्यतिक्रमा पञ्च कथ्यन्ते ॥ ९० ॥

॥ भोगोपभोगपरिमाणस्य तस्य व्यतिक्रमा अतीचारा, पञ्च कथ्यन्ते ॥
 के ते इत्याह 'विषयोपादि' विषय एव विषय प्राणिना दाहसतापादि-
 विधायित्वात् तेषु, ततो (वा)ऽनुपेक्षा-उपेक्षाया इत्यागस्याम-बोऽनुपेक्षा-
 आदर इत्यर्थे - विषयवेदना अतीकप्राप्तौ हि विषयानुभवस्तस्मा-
 न पुनर्यत्सम्पन्नाऽऽलिङ्गनायादरः सोऽप्यासुक्ति-

जनकवादीघार । अनुस्मृतिस्तदुभवाप्रतीकारे जातेऽपि पु-
नर्विषयाणां सौंदर्यसुखसाधनत्वादिनुस्मात्प्रकाशकित्तुत्वेदतीकारः ।
अतिखैर्यनतिगृह्णित्वाप्रतीकारे जातेऽपि पुन पुनस्तदनुभवाभा-
वेत्यर्थः । अतितृया भविभोगोपभोगादेरतिगृह्या अप्रकाशकत्वात् ।
मलनुभवो नियतकालेऽपि यदा भोगोपभोगोऽनुभवति तदाऽस्या-
सुखस्यानुभवति न पुनर्वेदनाप्रतीकारतयाऽनोऽतीघारः ॥ ६० ॥

इति प्रमोचन्द्र विरचिताया अमृतमद्रस्यामिचिरचितो-
पापकाध्ययनटोकायां चतुर्णापरिच्छेदः ॥ ३ ॥

अन्वयः—आचार्यैः भोगोपभोगपरिमा व्यतिक्रमा पच-
कथ्यन्ते । के ते प्रश्नः विषयविषय अनुपेक्षा, अनुस्मृति अति-
सौख्यम् अतितृयाऽनुभवौ ।

निरुक्तिः—विषयः एव विषयम् विषयविषय तस्मिन् वा तस्मान्
विषयविषयतः । न उपेक्षा अनुपेक्षा । भोगश्च उपभोगश्च भोगोप-
भोगौ तयो परिमौ, इति भोगोपभोगपरिमा भोगोपभोगपरिम व्यति-
क्रमा, इति भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः ॥

१ अतितृया विरासायामिति "विज्ञादिभ्योऽङ् २।३।०१
अनेन मङ्क ल्यः ततः टाप् । तृया च अनुभवश्चेति तृयानुभवौ
अतिशयितौ तृयानुभवौ इति तथा अति तृया अल्पनुभव इति
द्वौ । २-परिमिमोते परिमोयते वा अनेन चेति—परिपूर्णक
माङ्कमाने घो "विञ्चप्" २।३।३३ अनेन विञ्च ल्य । परिमा
इति भाषाणन्त शब्दः ।

१ सामायिक २ प्रोपभोपवास ३ और वैयाघृत्य ४ ॥९१॥

तत्र देशवकाशिकस्य जनलक्षणमाह—

देशवकाशिक शिक्ष व्रतका लक्षण कहते हैं—

देशवकाशिक स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।

प्रत्यहमणुव्रताना, प्रतिसहारो विशालस्य ॥९२॥

देशवकाशिक देशे मर्यादीकृतदेशमध्येऽपि स्तोत्रप्रदेशेऽवकाशो
नियतकालमवस्थानं सोऽस्मिन्तीति देशवकाशिक शिक्षाव्रत स्यात् ।
कोऽर्थाः प्रतिसहारो व्यावृत्तिः । कस्य देशस्य । कथंभूतस्य ।
विशालस्य बहो । केन कालपरिच्छेदनेन दिवसादिकालमर्यादया ।
कथं प्रत्यह प्रतिदिनम् । केना अणुवनानाम् अणुनि सूक्ष्माणि
व्रतानि येषां तेषां श्रवणात् इत्यर्थः ॥९२॥

अन्वय — अणुवनानां प्रत्यह कालपरिच्छेदनेन विशालस्य
देशस्य प्रतिसहारो देशवकाशिक स्यात् ॥

निर्दिष्टि — देशस्य अवकाश देशवकाशः अथवा देशस्य सी
अवकाश देशवकाशः । देशवकाशो भवो देशवकाशिकम् ।
कालस्य परिच्छेदः कालपरिच्छेदः तेन अहः अहः प्रति इति प्रत्यहम्
अणुनि व्रतानि येषां तेषां अणुवनानां तेषाम् ॥

१—ठक हत् य । २—किं सुप् ष्य १३१५ इत्यादिना
हत्ते हत्ते प्राजाह संपेष्ट ४।२।११५ इति साततस्य “देखेऽह
४। १४७-मनेन टिसट कस्य भन अम् । पुन “इय” १।४।१७२
अहन् शब्दस्य हे धमादेशः । प्रत्यहं प्रतिदिनेमित्यर्थः ।”

१ अर्थ—अणुवती धावकोंको प्रतिदिन कालकी मर्यादा कर बड़े देशका सकोच करना (घटाना) सो देशवकाशिक शिक्षाप्रत है ॥ ६२ ॥

अथ देशवकाशिकस्य वा मर्यादा इत्याह—

देशवकाशिक शिक्षाप्रतके क्षेत्रकी मर्यादा पठाते हैं—
गृहहारिप्राणा, क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
देशवकाशिकस्य, स्मरन्ति सीमा तपोवृद्धा ॥

तपोवृद्धादिचरन्तनाचार्या गणधरदेवादयः सीमानां स्मरन्ति मर्यादा प्रतिपद्यन्ते । सीमानामित्यत्र “स्मृत्पर्यदयेशां कर्म” इत्यनेन पश्यात् । केषां सीमाभूतानां गृहहारिप्राणाणां हारि-कटक । तथा क्षेत्रनदी दाववाजनानां च दावो जन । कस्यैतेषां सीमा भूतानां दशावकाशिकस्य दशनिवृत्तिवृत्तस्य ॥९३॥

अन्यथ — तपोवृद्धा गृहहारिप्राणां च क्षेत्रनदीदावयोजनानां देशवकाशिकस्य सीमा स्मरन्ति ॥

निरुक्ति — तपोभिः वृद्धा तपोवृद्धा । गृह च हारी च प्राण च

१-‘स्मृत्पर्यदयेशां कर्म’ ॥३६६ इति कर्मकारके ता विमली ।

२—हारि शब्द हारात् तथा हनत् मा है । इसका अर्थ मनीहार दर्शनीय स्थान है । जहाका ऊल पृष्ठाद्यदि मोक्षरत्ने पर्वत पवन आदि कोई भी घन्तु रोगनाशक या मनीहारी हो उस स्थानको हारि कहते हैं । तथा जहांपर वृद्धक

इति गृहहारिप्रामा तेषाम् । क्षेत्र च नदी च दाय च योजन-च इति क्षेत्रनदीदाययोजनानि तेषाम् ।

अर्थ—गणभरदेरने गृह घर सेनाका पड़ाव (छावनी) ग्राम क्षेत्र नदी वन और योजन-इतने योजन दूर तक, इनको देशावकाशिक शिक्षाव्रतकी सीमा बताई है । स्मरण की है । एव द्वावार्धि योजनावधि चास्य प्रतिपाद्य कालावधि प्रतिपादयन्नाह

देशावकाशिककी काल मर्यादाओंको कहते हैं—

सवत्सरमृतुमयन, मासचतुर्भासपक्षमृक्षं च ।

देशावकाशिकस्य, प्राहु कालावधिं प्राज्ञा ॥ १४१ ॥

देशावकाशिकस्य कालावधिं कालमर्यादां प्राहु । प्राज्ञा गण-
धरदेवादय । किं तदित्याह 'सवत्सरमित्यादि' सवत्सर यावदेताव-
त्येव देशे मयाऽवस्थानव्यम् तथा ऋतुरयन वा यावत् । तथा मास
चतुर्भासपक्ष यावत् । ऋत्न च चन्द्रमुक्त्वा आदिरश्मुक्त्वा वा इद
नक्षत्र यावत् ।

अन्वया भिन्न करते हैं अथवा महा एक ही स्वामीके अनेक पेट
हों गोबरभूमि हा उनको हारि कहते हैं । आगरा प्राग्तमें जिसको
हार कहते हैं । जैसे इस समय चौधरी हारमें ही गाये हारको
गई है इत्यादि वाक्योंमें हार शब्द बोटा जाता है ।

१-योजनप्रमाण क्षेत्र योजनम् । "योजनप्रमाणमस्येति
योजनमात्मम्" पुन "उम्मागे" ३।४।२०२ इति मात्रदृ त्यस्य
त्रुप । पतावहु योजनप्रमाण क्षेत्र पर्यन्तमित्यथा ।

- अ-य-प्राज्ञा -सवत्सरम् ऋतु अयन मासचतुर्मासपक्षे
च ऋतु देशान्ताशिकस्य कालावधि प्राहु ॥ ९४ ॥

निरुक्ति -मासश्च चतुर्गामश्च पक्षश्च एषां समाहार मास-
चतुर्मासश्चम् । कानस्य अवधि कालावधिस्तथा ।

अर्थ-विद्वान् श्रुतज्ञानी, सतत (वर्ष दो वर्ष आदि)
ऋतु (वसन्त हेमन्त आदि पद्) अयन (उत्तरायण दक्षि-
णायन दो, सूर्यगमन) माम (महिना) चतुर्गाम (वर्षा-
काल शीतकाल उष्णकाल) पक्ष (शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष)
और ऋषु (मन्नाह) इत्यादिक समर्थो को देशान-
काशिक शिक्षाप्रतकी काल मर्यादा कहते हैं ॥ ९४ ॥

एतद्देशान्ताशिकप्रते कृते सति तत्र परत किं स्यादित्याह -
देशान्ताशिक शिक्षाप्रतक होनेपर क्या फल होता है ?

१-प्रज्ञा बुद्धि विद्यते देयु पेया या ते प्राज्ञा 'प्रज्ञाश्रद्धाचा
वृत्तेण ' धा१।१३ इति णत्व । अथवा प्रष्टष्ट प्रष्टाटेन वा जान
न्तीति प्रज्ञा । 'गावाता ऽनिक' २।१।२७० इति णत्व । पुनः
प्रज्ञा एव प्राज्ञा 'प्रज्ञादिभ्य धाश्' २-०नेन स्वार्थे अण्त् २ ध्रुतः
केवलिन । -उद्धूनि भान्ति तारर्क्षं नक्षत्रमिति धनञ्जय । एत
पृथगे पञ्च ग्रीसयोनिन क्षेत्रके बाहर तत्रतक नदी जावगे जवतक
बुभ्रराशिरर शरीशर प्रइ रईगा । एत अपने तगरले प्राप्रले पर
कोटासे परे तवतक के करण जनतक आठमा

सीमान्तानां परत , स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् ।
देशावकाशिकेन च, महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते।१५

प्रसाध्यन्ते व्यवस्थाप्य ते । कानि १ महाव्रतानि । केन २ देशा
वकाशिकेन च । न केवल दिग्विस्तार्यापि देशावकाशिकेनापि । कुत ३
'स्थूलतपश्चपापसंत्यागात्' स्थूलेतराणि च तानि हिंसादिलक्षण
पञ्चपापानि च तेषां सम्यक् त्यागः । क्व ४ 'सीमा'तानां परत
देशावकाशिकव्रतस्य सीमाभूता ये अत्र ता धर्मा गृहादयः सवत्सरा
दिपिशेषाः, तेषां वा अन्तः पर्यन्तारस्तेषां परत परस्मिन् भागे ।

अथ देशावकाशिकेन महाव्रतानि प्रसाध्यन्ते । कस्मात्
सीमा'तानां परत स्थूलेतरपञ्चपापसंत्यागात् ।

निरुक्ति - सीम्नाम् अवधीताम् अन्ता पर्यन्ता इति सीमाताः

१-देशावकाशिके विद्यते अस्यासी देशावकाशिक । "अतो-
ऽनेकाच्च " ४।१।७६ इति टट्य । तस्य इह आदेशे तेन तथा ।
२-प्र पुलक 'सात्रससिद्धी' घोः कर्माणि लट् यद् यच्चे भक्त्यः
पुन "ये यक' २।१।८० इति यक । प्रकर्षेण साध्यन्ते वाच-
र्यन्ते इति प्रसाध्यन्ते-उपचर्यन्ते इत्यर्थाः । ३-परस्मिन् क्षेत्रे
परस्यां दिशाया वा परत "तसेः" ४।१।२१४ इति तस ।

विशेष - इमसे साक्षात् महाव्रत कर्षो नहो कहे जाते ? इसका
उत्तर प्रत्याख्यातनुत्वात् इस ७१ कारकामे स्पष्ट यता धुके हैं
वही उत्तर यहां समझना । इसी प्रकार अन्य सामायिकादि
वितामर्तोमें जानना ।

तेषाम् । स्थूलानि च इत्यादि च यानि पञ्चपपनि इति स्थूलेतर-
पञ्चपापनि । तेषां सत्याग, इति स्थूलेतरपञ्चप.पसायागः । तरमह् ।

अर्थ—देशावकाशिक शिक्षाप्रती भावक (अपने अणु-
प्रतीकी) महाप्रत सिद्ध कर लेते हैं क्योंकि देशावकाशिक
शिक्षाप्रत की की हुई जो क्षेत्र सीमा तथा काल सीमा
उनके परे (बाहरके क्षेत्रोंमें उठने कालतक) स्थूल तथा
सूक्ष्म हिंसा आदि पांचों पापोंका परित्याग हो जाता है
इससे ।

इदानीं तदभिचारार् दशमनाह—

देशावकाशिक शिक्षाप्रतके अतीचार बताते हैं ।

प्रेषणशब्दानयन, रूपाभिव्यक्तिपुद्गलक्षेपौ ।

देशावकाशिकस्य, व्यपदिश्यन्तेऽत्रयाः पञ्च ॥

अलगावतीचरः । यस्य देशावकाशिकस्य देशविरते ।
यनि पञ्च व्यपदिश्यन्ते कथ्यन्ते । के ते इत्यह—
'प्रेषणसदि' मर्यादीकृते देशे स्वय रिपतस्य ततो बहिर्दि
पुर्विति गिनियेग प्रेषणं । मर्यादीकृतदेशाद् बहिर्व्यापार कुर्वत
कर्मकरान् प्रति खानजरादि. शब्द । तदेश द्वहि प्रयोजनवशा-
दिदमानदेशाहापनमानयन । मर्यादीकृतदेशे रिपतस्य बहिर्देशे कर्म
कुर्वता कर्मकराणां स्वरिप्रहप्रदर्शन रूपाभिव्यक्ति । तेषामेव सोष्टा-
दिनिपत. पुद्गलक्षेप ॥ ९६ ॥

सर्गत्र सर्पादाके भीतर और बाहर मन, वचन, काय, कृत कारित अनुमोदनासे पांचों पापोंका छोड़ना । किम तरहसे छोड़ना ? समयके छूटने तक (प्रतिज्ञाके पूर्ण होने तक) ।

‘आसमयमुक्ति’ अत्र य समयशब्द प्रतिपादितस्तदर्थे व्याख्यातुमाह —

“आसमयमुक्ति” इममें कहा हुआ जो समय पद है उसका स्वरूप [अर्थ] बताते हैं—

मूर्धरुहमुष्टिवासो बन्ध पर्यङ्कबन्धनं चापि ।

स्थानमुपवेशन वा, समय जानन्ति समयज्ञा ॥

समयज्ञा आगमज्ञा । समय जानति । किं तद् ? ‘मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्ध । बन्धशब्द प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते । मूर्धरुहाणां केशानां बन्ध-बन्ध-काल समर्थ जानति । तथा मुष्टिवन्ध व सोबन्ध बलप्रथि पर्यङ्कबन्धन चापि उपनिवृत्तक्रयो सर्गमपि च स्थानमूर्धका-योत्सर्गं उपवेशन वा सामान्येनोपरिष्ठावस्थानमपि समय जानति ॥

-अन्वयः—समयज्ञा मूर्धरुहमुष्टिवासोबन्ध समय जानति । च पर्यङ्कबन्धन समय जानति । अपि च स्थान अथवा उपवेशन समय जानति ॥

निरुक्ति—मूर्धरुहश्च मुष्टिश्च वासश्च इति मूर्धरुहमुष्टिवासांसि तेषां बन्ध इति । मूर्धरुहमुष्टिवासोर्बन्ध तम् तथा । पर्यङ्कस्य बन्धन-

(१) बन्धे घञि वा ४ । ३ । १६१ । अनेन विकल्पविधानात्
(सप्तम्याः) उप् ।

मिति पर्यङ्गव रणम् । समय जानति ते समपज्ञाः ॥

(१) "आतः कोऽहायाम " २ । २ । ३ । "दाहः" २ । २ । ५
इति अन्वतरस्मात् क स्यः । कालस्य हातार ।

विरोर-‘सामयिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि-सूक्ष्म सा-
म्प्राययथाख्यातमिति चारित्रम्’ इस तस्यार्णसूत्रमें जो सामा-
यिक है यह चारित्र है जो महाप्रती भनगारों में होता है । इहां जो
सामयिक है वह शिक्षायुत है जो कि अणुयुतो गृहस्थोंके ही
होता है । उसीका यहा वर्णन है । समय नाम कालका भी है समय
मात्र भी जो मृति-पुष्टि या विचार अध्ययन उच्चारण चिंतनसे
अपना हित क्रिया जाय सो भी सामायिक है । गृहस्थ लोक प्रत्येक
क्रियाके आरम्भमें अपने इष्टदेव तोर्णद्वार अर्हत परमात्माका
नाम लेते हैं । तथा नमस्कार मात्र अथवा "णमो अर्हताणं"
'पार्श्वनाथाय नम' जय भगवानकी, हे यधामान स्वामी, भी
शांतिनाथ स्वामी शान्ति करो । गोमटस्वामीकी जय इत्यदि
अनेक प्रकारके जयकार नमस्कार आदि वाक्योंको बोलते हैं ।
पगडी टोपी दुपट्टा आदि मस्तकपर धारण करनेसे पहले
जय शिरके घालों को सुधारते हैं याधते हैं तब उपर्युक्त
इष्टसाधक जयकार नमस्कारात्मक वाक्योंका स्मरण करते हैं वह
भी सामायिक है । १। अगडा आनेपर जो मुजाओंको प्रसारते हैं
तथा मुख नासिकासे प्रबल उच्छ्वास निश्वास लिया जाता है
तब हाथका मुष्टि स्वयं (स्वभावासे) बाध जाती है उस समय भी
इष्टदेवका नाम लेना चाहिये (लेते हैं) २। अब किसी पुत्रपार्णकी

अर्थ-आचार्योंने मूर्धरुद्धवधन, मुष्टि वन्धन, वासो वधन इनको समय कहा है और पर्यन्त वन्धनको समय

प्राप्तिके लिये वस्त्र पहनते हैं अगरलाये वस्त्र वापते हैं धीवतो (अधोऽस्त्र = अधोऽसारीयस्त्र) वापते हैं तब भी परमात्मका नाम लेते हैं (लेना आदिये) । ३ । पटाङ्ग नाम पलाग = पलिकाका नाम है 'मञ्जुपदाङ्कपल' ह्या शब्दवया समा ' इति अमरकोपसे, वधन अर्थ है मन्थन होना । पलागपर अपने शरीरका मन्थन करना — लेटना । अर्थात् ज्ञानके लिये जब पर्यङ्क (पलाग) पर शय्या करे (करते हैं) तब भी परमात्माका नाम लेवे (लेते हैं) । ४ । चलते चलते सवारी खड़ी हो या रुका सडा हो तब भी इष्टदेवता नाम उच्चारण करे (करते हैं) । ५ । जब किसी आसतपर या कुसों चौकी पट्टा या भूमि आदिपर बैठे-विश्राम करे बैठे = विश्राम करे, उस समय भी आचर्मानह्यामीकी जय आदि इष्ट पावनका उच्चारण करे । ६ । इसी प्रकार छीक आघे १ जम्मा (जमाइ) आये तब भी अहं तथा जय इत्यादि इष्ट पदोंको बोले (बोलते हैं) इत्यादि अनेक सामयिकके समय हैं और ये सबसे छोटे हैं । प्रायः सदा ही धमाधलम्बी अपने अपने इष्टका स्मरण और नाम लेते हैं । ये सामायिक निष्ठाव्रत करनेके अवसर (समय) हैं ।

समय शब्दका अर्थ अवसर भी है यथा - समय शपथे भाषारूपदो कालमधिदो । सिद्धांताचारमकेतनियमावसरेषु च ॥ मियाधिकारे निर्देशे च । इति रमस १ ।

१० तथा भाषामें भी समय शब्द अवसर अर्थमें आता है । जैसे

कहा है। स्थानको [रूढ़ होनेको] तथा उपवेशनको [बैठनको] भी ममय कहा है ॥ ०८ ॥

एतन्निधे समये भवत् सामायिक पञ्चप्रकारपापात् साक-
रुयेन व्यावृत्तिररूप तस्यै चरोत्तरा वृद्धि वर्तन्वेत्याह —

ऊपर बताये हुये समयोंमें कहा गया जो सामायिक
उसको तबतक उदाता रहै जबतक पूर्णतासे पाँचों प्रकारके
पापोंका त्याग न हो जावे। उम सामायिककी वृद्धि वृद्धि
कैसे क्षेत्रमें होती है ऐसा बताते हैं—

एकान्तं सामयिक, निर्व्याक्षिपे बनेषु वास्तुपुत्र ।
चैत्यालयेषु वापि च परिचेतव्य प्रसन्नधिया ॥९९॥

‘परिचेतव्य वृद्धि नेतव्य । त्रि तत् ’ सामायिक । वर ’ एकान्ते

श्रीलालजीको घोटनेका समय मिला चाहिये । अथसर मिला
चाहिये ऐसा अर्थ होता है । उसको घोटनेका ममय (अव-
सर) मिला इत्यादि । उमी प्रकार यहा मूधरुइवच भादि
सामायिक शिक्षा-तके अग्रसर हैं जैसे जिनदत्त मुष्टिवचके
समय उक्त शिक्षाग्रत करता है अथात् जिनदत्तका
मुष्टिवच भा सामायिक शिक्षाग्रत करनेका अवसर
है इत्यादि । यह स्वल्प सामायिक है । आगे आगे इस
समयको इस हम प्रकार उदाये ऐसा

सख्याकी कारिकाओंमें स्वयं भगवान् समय

सीपशुपण्डनिवर्तते प्रदेशे । कथंभूते ? निर्व्याक्षेपे चित्तव्याकुलता-
हिते शातयातदशमशकादिवागवर्जित इत्यर्थे । इत्यभूते 'एकान्ते' ।
इव ? वनेषु अटनीषु वास्तुषु च गृहेषु, चैत्यालयेषु च अपिशब्दाद्
गिरिगण्डरादिपरिग्रहः । केन चेतव्य ? प्रसन्नधिया प्रसन्ना अवि-
क्षिप्ता धीर्यस्यामनस्तेन अथवा प्रसन्नाचासौ धीश्च तथा कृत्वा आत्मना
परिचेतव्यमिति ॥९९॥

अन्वयः—श्रावकेन प्रसन्नधिया वनेषु च वास्तुषु अपि च
चैत्यालयेषु निर्व्याक्षेपे एकान्ते सामयिक परिचेतव्यम् ।

निरुक्तिः—विशेष आक्षेप निन्दा उपद्रवो वा व्याक्षेपः ।
निर्गतः व्याक्षेपो यस्मादिति निर्व्याक्षेप । तस्मिन् तथा । चैत्यानां
निनत्रिम्बानामालय आश्रयतनम् चैत्यालय । परितः चेतु योग्य
परिचेतव्य "परिपूर्वकचिञ्च चयने धो ' तद्व्यानीयै २।१।१०२।
इति कर्मणि तव्य ल्य । वर्धनीयम् उन्नेयमित्यर्थे ।

अर्थ—श्रावक प्रसन्न बुद्धिगाला होता हुआ वनोंमें
गृहमें अथवा चैत्यालयमें जहा निरुपद्रव एकान्त स्थान हो
वहाँ सामायिकको बढ़ावे ॥ ९९ ॥

इत्यभूतेषु स्थानेषु कथं तत्परिचेतव्यमित्याह—

कैसे कालमें सामायिक वृद्धि होती है ऐसा बताते हैं—
।रवैमनस्य। द्विनिवृत्त्यामन्तरात्मविनिवृत्त्या।
सामयिक वर्धनीयाद्गुणवासे चैकमुक्त वा ॥१००॥
।जीयाद्गुणनिष्ठेत्। किं तत् ? 'सामयिक' । कस्यां सत्त्वाविनिवृ-

एवाम् । कस्मात् ? 'व्यापारवैमनस्यात्' व्यापारः—कायादिचेष्टा, वैम-
नस्य मनोव्यग्रता चित्तकालुष्य वा तस्माद्विनिवृत्त्यमपि सत्यां 'अतरा-
त्मविनिवृत्त्या कृत्वा तद्रूपीयात्' अतरात्मनो विवर्त्यस्य विशेषेण
निवृत्त्या । कस्मिन् सति तस्यां तद्रूपीयात् ? उपवासे चैकमुक्ते वा ।

अन्वय — श्रावणं व्यापारवैमनस्यात् विनिवृत्त्याम् अतरात्म-
विनिवृत्त्या उपवासे वा एकमुक्ते सामयिकवधीयात् ॥

निरुक्त — व्यापारश्च वैमनस्य च अनयो समाहार व्यापार-
वैमनस्यम् । तस्मात् । अतरात्मे विनिवृत्ति इति अतरात्मविनिवृत्तिः

अर्थ—श्रावक शरीर आदिकोंकी चेष्टा और मनकी

१—राग द्वेष काम क्रोध आदि औद्यिक भाव जीयमें ही
होते हैं इसीमें इनको भगवान उमाश्यामि आचार्याने मोक्षशास्त्रमें
"औपशमिदशापकी भासी मिश्रश्च जीयन्त्य स्वतस्त्वमीद्यिक-
पारिणामिकी च ॥२॥ अध्याय ॥१॥ सूत्रमें स्वतस्य पदसे कहा है
और ये कथाय भाव स्वजनोप हैं इनके त्यागो बिना 'धर्म' नहीं
होता तथा ये क्रोधादिक पर्याये अन्य किसी भी द्रव्यमें नहीं हैं ।
आत्मामें ही होते हैं इसीसे इनको "अतरात्म" कहा है । अथवा
ये अन्तर स्वरूप हैं इससे ये अन्तरंग भाव कहलाते हैं । अर्थात्
क्रोध मान माया काम और निदान भावोंकी निवृत्तिके निमित्त
सामायिकको बढाये । अथवा इन अतरात्म भावोंकी निवृत्तिके
साथ ही सामायिकको बढाये अर्थात् न धार्मिक भावोंको
घटाये और धार्मिक भावोंको बढाये, यही २॥

व्यग्रताको दूर करनेपर अंतरात्मा सम्बन्धी विकल्पोंको दूर कर उपवामके दिन तथा शोषधके दिन सामायिकको चढावे ॥ १०० ॥

इत्यभूत् तत्किं कदाचित्परिचेनव्यमयया क्वेत्तत्र ह —

ऐसे सामायिकको प्रति दिन भी यथायोग्य करे
सामयिक प्रतिदिवस, यथावदप्यनलमेन चेतव्य।
व्रतपञ्चकपरिपूरण कारणमवधानयुक्तेन ॥१०१॥

‘चेतव्य’ वृद्धि नेतव्य । किं ? सामयिक । कदा ? ‘प्रतिदि-
वममरि’ न पुन कदाचित् परदिवसे एव । कथं ? यथावदपि
प्रतिनादितस्संस्थानतिक्रमेणैव । कथंभूतेन ? ‘अनलमेना’ऽऽलस्य
रहितेन उच्येनेत्यथ । तथऽवधानयुक्तैनामचेनसा । व्रतस्तदित्य
परिचेनय ? ‘व्रतपञ्चकपरिपूरणकारण’ यत्, व्रतानां हिंसाविरत्या-
दीनां पचक तस्य परिपूरण परिपूरणत्वं महाव्रतत्वं तस्य कारणं
यथोक्तसामयिकानुष्ठानकाले हि श्शुभ्रना यपि महाव्रतत्वं प्रतिपद्य-
न्तेऽनरतत्कारणम् ॥ १०१ ॥

अन्वय — अनलसेन अवधानयुक्तेन अरि श्रावकेन प्रतिदिवस
यथावत् सामयिक चेतव्यम् । कथंभूत सामयिकम् ? व्रतपञ्चकपरि-
पूरणकारणम् ।

निरक्ति — दिवस िवस प्रति इति प्रतिदिवसम् । नास्ति अलमो

यस्य यस्मिन् वा अनलस तेन । अत्रधानेन युक्त स अत्रधानयुक्त
तेन । व्रतानां पञ्चकैः प्रव्रतपञ्चकम् । व्रतपञ्चकस्य परिपूर्णमिति
व्रतपञ्चकपरिपूर्णम् । व्रतपञ्चकपरिपूर्णे कारणमिति व्रतपञ्चक-
परिपूर्णकारणम् ॥

अर्थ—आत्म रहित ऐसा श्रावण साधन सयुक्त
होता हुआ प्रति दिन यथायोग्य सामायिकी करे।
वैसा है वह सामयिक ? पाचा व्रतोंको पूर्ण करनेका
साधन (उपाय) है ॥ १०१ ॥

एतदेव समर्थयमान प्राह

सामायिक शिक्षाप्रती मनसो विषयोसे रोकता हुआ
महाव्रतोंमें सामर्थ्य बढा लेता है, ऐसा बताते हैं—
सामयिके सारम्भा परिग्रहा नैव मन्ति सर्वेऽपि
चेलोपसृष्टमुनिरिव, गृही तदा याति यतिभावम्

‘सामयिके’ सामायिकावस्थायां । ‘नैव सति’ न विद्यते ।
के ? ‘परिग्रहा’ सद्भा । कथंभूता ? ‘सारम्भा’ कृत्याधारम्भस
द्विताः । कति ? सर्वेऽपि “यद्यम्पतराध्वेननेतरादिरूपा” वा ।
यत एव ततो यानि प्रतिपद्यते । क ? यतिभाव यतित्व । कोऽपि ?

१-पञ्च अशा अस्थेति पञ्चक । ‘तद्व्याश चरा भृति’ शशादइ-
इति कटप । पञ्च परिमाणपक्ष समूहस्येति वा पञ्चक “स्ये सध-
१५ अनेन क ।

गृही श्रावण । कदा ' सामाधिक्यवस्थायां । क इव ' 'चेलोपसृष्ट-
मुनिरिव' चेतन वस्त्रेण उपसृष्ट उपसर्गयशाद्द्वैष्टिनः स चासी
मुनिश्च स इव तद्वत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः — श्रावणस्य सामाधिक्ये सारम्भात् सर्वेऽपि परिप्रदा
नैव सन्ति तदा स गृही चेलोपसृष्टमुनि इव यतिभावं याति ।

निरुक्तिः—भारम्भैः सहितास्ते सारम्भा । चेतनेन उप-
सृष्ट उपसर्गो यस्य स चेलोपसृष्टः, चेलोपसृष्टभासां मुनिरिति
चेलोपसृष्टमुनिः । यते भाव यतिभावः त तथा । समयाय दित
सामाधिक्यम् तरिगत् सामाधिक्ये ॥ १०२ ॥

१-उपनि पूर्वक "सृज्जीड विसर्गे" इति धोः "त २२११००
इति क । प्रयत्नं सृज्ज सृज्ज यज्ज राज्ज सृज्जशां य - १३७
इति जस्य य । ष्टुना ष्टु पा३१६६ इति तस्य टः ॥ २-।हां
उपेक्षालकारसे जिन्याको समन्दाया जाता है, अणुप्रभो धायक
वस्त्र सहित होता है कीपीनसे लेकर अंक चक्र धारण करता है
शुद्धस्य कदाचित भी यत्नरहित घिलकुल - गा नहीं होता, इससे
सामाधिक्य करते समय नियमित-परिमित वस्त्र धारण करता हुआ
उससे ममता नहीं रखता, आत्महितके लिये अपनी गर्हा निंदा
करता हुआ बहुत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु जिन्याणी
रत्नप्रय भर्ग दिन प्रतिमा जिनालय इन देशोंके स्वरूपको विचारै
है ध्याये हैं भावना करै हैं । उस समय हृष्यादिक ध्यापार,
भोग उपभोग तथा अन्य समस्त प्रकारके भारम्भोंसे तथा

अर्थ—भावकोंके पास सामयिकके समय आरम्भ तथा सर्वप्रकारके परिग्रह नहीं रहते हैं तब वह वस्त्रधारी

समस्त परिग्रहोंसे छूटना हुआ धमध्यानके साधनोंमें स्थिर चित्त करता है उसका वस्त्रोंपर ममत्व नहीं है ।

इससे यह चेसा जाना जाता है मानो यह चेसा मन्त्राग्नी ही है जो पकान्त वसतिकामें ध्यान करते हुवे दिग्बर जैन मुनिराजपर किसी भोले भाइने वस्त्र डाल दिया हो उदा दिया हो । उनकी प्रतिज्ञाका वाक्क होनेसे उपसर्ग रूप ही है यह निर्गल्ल नामक मूल गुणका नाशक है । इसीसे उनकी उस वस्त्रपर ममता नहीं है उसे (अपने शरीरपर पडे हुवे वस्त्रका) उपसर्ग ही ममकते हैं अपने "मुख्य मुल्लगुणका घातक ही है चेसा जानते हैं" चेसे मुनिराजकी उत्प्रेक्षा इस सामायिक शिक्षाप्रत को करनेवाले गृहस्थको बतायी है । अथात् सामायिक करते समय वह समन्व प्रसरके आरम्भ परिग्रहका त्यागी तो है किन्तु पहने हुवे वस्त्रोंसे भी ममता नहीं है । सामायिकमें इतना और चेसा लीन हो जाता है मानो वस्त्रका उपसर्ग हो रहा है चेसा दिग्बर जैन साधु ही है जैसे दिग्बर जैन साधुकी उनकी वस्त्रोंमें ममता नहीं है उसी प्रकार इस धावककी भी उन पहने हुवे वस्त्रों पर ममता नहीं है ।

इस प्रकार भगवान समतभद्रधामीने इस "वेलोपसृष्ट मुनिरिव" धावकसे गुणप्रतो धावकको अन्तरंग परिग्रह तृष्णाके त्याग करनेका उपदेश दिया है । सोही प्रतियोंको करना चाहिये ।

गृहस्थ "वस्त्रका हो रहा है उपमर्ग जिमको ऐमे" मुनिके समान मुनि भावको प्राप्त हो जाता है ॥ १०२ ॥

तथा सामायिक स्वीकृतवन्तो ये तेऽप्यमपि किं कुर्वन्तीत्याह-
सामायिक करनेवाले जाँर क्या करें ? ऐमा बताते हैं-

शीतोष्णदशमशक्र

परीपहमुपसर्गमपि च मौनधरा ।

सामयिक प्रतिपन्ना,

अधिकुर्वीरञ्चलयोगा ॥१०३॥

'प्रतिपुर्वीरन्' सहेरन्वित्यर्थ । के ते ? सामयिक प्रतिपन्नाः' सामायिक स्वीकृतवन्त । किं विगिष्टा सन्त ? 'अचलयोगाः' स्थिरसमागम प्रतिज्ञातानुष्ठानपरिव्यागिनो वा । तथा 'मौनधरा-स्तर्पीडाया सन्यामपि बलीयादिवचनाञ्चारका ई यदिवचनानु-चारका । कमपि कुर्वीरित्याह - शीतल्यदि शीतो-ष्णदशमशक्रानां पीडाकारिणा तत्परिसम तात् सहन परीपहनम् । १ केवल तमेव अपि तु 'उपसर्गमपि च' दशमनुष्णतिर्व्यवहृतम् ॥ १०३ ॥

अन्वय - सामायिक प्रतिपन्ना प्रायसा मौनधरा सन्त

१-प्रति पुत्रक पदोऽट गती शत च । उक्तस्य ता नोऽम-
त्तु मूढाम् ५।०।८४ अनेन दस्य तस्य च नकारी । अस्य
कर्माणि 'न भित्तलोषत्राधान्बुणाम् १।४८२ अनेन ताधि-
निषेध इ १५ विमक्षा विहिता ।

शीतोष्णदशमशकपरीपट्टम् अपि च उपसर्गम् अविदुर्नान् । कप
भूता श्रवका अचलयोगा ।

निरुक्तिः—शीत च उष्ण च दशमशकरच इति शीतोष्ण
दशमशकाः शानोष्णदशमशकानाम् परीपट्ट इति शानोष्णदश-
मशकपरीपट्टस्त तथा । मौनं धरतीति मौनया । अचलो योगो
येषां ते अचलयोगा ॥

अर्थ—मामयिक करनेवाले श्रावक मोन धारण
करते हुवे शीत उष्ण दश मशक परिपट्टको तथा उपसर्गो
को सहन करें । कैसे हैं वे श्रावक ' स्थिर है समाधि
जिनकी । प्रतिज्ञात किय हुये विधि विधानमें स्थिर हूँ १०३

त चाधिकुर्याण' मामयिके स्थिता एवमेव ससारमोक्षयो
स्वरूप चिन्तयेयुरित्याह—

१-परित सहन पराशर—परिपूर्वक यह मशने घोः
"पु खी घ प्राय " २३१२३ इति घ । मिवु मइ सुटस्तु स्वञ्ज
५।४।५५। इति प्रकार । अथवा परित सइते इति परिपट्ट
"क्वियप" २।२।७४ इति "मम्यशदिम्य क्वियप त्ति " २।३।६१
इति च क्वियप-त्य 'नहि वृति वृषि व्याधि रुचि सहि तनी
षयी वाग्ने " ४।३। २८४ इति परिगे श्री वम् । पुन पत्य च
२-युजिर योगे घो युजौड सनाधी घोश्व घन । 'चजे कुर्षिणे
तेऽनट" ५।२।६३, अनेन जकारस्व गकार । योजन समावाह-
मिति योग समार्थ यमश्चेत्पर्यः

पगीपठ तथा उपमर्गो जीवनेवाला श्रावक सामा-
यिकमें क्या चित्रपन करै ? सो बताते हैं-

अशरणमशुभमनित्य,

दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।

मोक्षस्तद्विपरीताऽऽ

त्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥१०४॥

तथा सामयिके स्थिता ध्यायन्तु । वम् ? भव स्तोपात्तमम्
वशाच्चतुर्गतिपर्यटन । वधभूतम् ? 'अशरण' न विद्यते शरणम्
पापपरिरक्षक यत्र । अशुभमशुभारणप्रभवत्वात् शुभकार्यकारित्वा
त्शुभम् । तथाऽनिय चतसृत्रपि गतिषु पर्यटनस्य नियतमात्र
सयाऽनित्यत्व दानत्व । तथा दृ राहतु रद् दृ ग्य । तथा नात्मानना
त्मस्वरूप न भवति । एतन्निध भवमावसामि एव विधे भवे तिष्ठा
मीत्यर्थः । यद्येव त्रिंशत्संसारस्तर्हि मोक्षं कीदृश इत्याह-मोक्षस्त-
द्विपरीतात्मा तस्माद्दुक्तमवस्वरूपाद्विपरतरयरूपत शरणशुभादि
स्वरूप , इत्यत्र चतसृत्रपि तत्र तु स मयिके स्थिता, ॥ १०४ ॥

अ वय अत्र सा सामयिके इति ध्यायन्तु । इतीति त्रिम् ?
अह भवेम् आवसामि । तत् त्रिंशत्संसारमा मोक्ष । वधभूत भवम् ?
अशरणं पुन अशुभम् पुन अनित्यम् पुन दुःखं पुन अनात्मानम्

१-भ्रममिति आवसामि इति ध्यायन्तु । अशरणशुभादि
कर्मसंज्ञा वसोभनूपाधाहः १ । २ । १४२ । अनेन

निरुक्तः नास्ति शरणं यस्य यस्मिन् वा स अशरणं तम्
अशरणम् । नास्ति शुभं यस्य यस्मिन् स अशुभं, तम् अशुभम् ।
नास्ति नित्यं यस्मिन् स अनित्यः, तम् अनित्यम् । नास्ति आत्मा
यस्मिन् स अनात्मा, तम् अनात्मनम् । विपरीत एव अरमा
स्वरूपो यस्य स विपरीतात्मा तस्मात्, ससारात् विपरीतात्मा इति
तद् विपरीतात्मा ॥

अर्थ-आरक लोक सामयिकमे इम प्रकार ध्यान
करे कि मैं समारमें बस रहा हूँ अर इमसे उल्टा मोक्ष
है । कैसा है ससार ? निममें कोई शरण नहीं है तथा
अशुभ है अर नित्य नहीं है तथा दु स्वरूप है और आत्मा
के स्वरूपस भिन्न है । मोक्षका स्वरूप समारसे विरुद्ध
शरणभूता, शुभरूप, नित्य स्वरूप और आत्मस्वरूप है
ऐसा चिन्तवन करे ॥ १०४ ॥

साम्प्रत सामयिकस्यातीचारान ह—

वाक्यायमानसाना, दु प्रणिधानान्यनादरास्मरणे ।
सामयिक स्यात्तिगमा, व्यज्यन्ते पञ्च भावेन ॥

व्यज्यन्ते वक्ष्यन्ते । के ते ? अतिगमा अतिचार । करयः
सामयिकस्य । वक्तिः पञ्च । कथः भावेन परमार्थेन । तथा हि ।
वक्त्रायमानसानां दुप्रणिधानमित्येतानि श्रीणि । अनादरोऽनुसाह
अस्मरणमनेकाग्रम् ॥ १०५ ॥

अन्वय — सामयिकस्यानिगमा भावेन पक्ष व्यञ्जयते के ते पञ्च वाक्कायमानसानां तु प्रणिधानानि अनादरास्मरणे ।

निरक्ति वाक् च कायश्च मानस च इति वाक्कायमानमानि तेषां वक्ष्यमानसानाम् । अनादरश्च अस्मरणश्च इति अनादरास्मरणे ।

अर्थ सामायिक शिक्षाव्रतके पांच अतीतार विद्वान् मुनिगर्वोने व्यक्त = स्पष्ट वये हैं । जो कि वक् दु-प्रणिधान = शस्त्रविरुद्ध अशुद्ध पाठ पढना १ काय दु-प्रणिधान = शरीरसे दुश्नेष्टा करना २ मन दु-प्रणिधान = मनसे दुष्ट परिणाम करना ३ अनादर = सामायिक विधि विधानका आदर न करना ४ अस्मरण = ईयापथ दण्डक, चैत्यभक्ति आदिक सामायिक दण्डक पाठोंको भूल जाना ५ ॥ १०५ ॥

१-“भावेन” इति शब्दं पदम् । भावो विद्वान् रै इत्यमरः, भावः “सत्तास्वभावाभिप्रायश्च” टाट्टनजमसु । क्रियालीलापदार्थेषु धुधज-तुविभूतिषु” इति रभसः । इति कथनात् भावेन विदुषा मोक्षपुरुषार्थिना मुनिना इत्यर्थः । भावेन इति करणकारकं च तदा परमार्थस्वरूपेणैवार्थश्च ।

२-मञ्जू गतिव्यक्तिप्रक्षणेपु इति रुधादिधोः धर्मणि लृट् “ने यक्” २।१।८० इति यक् विकरणः । व्यञ्जयते व्यक्ती-क्रियन्ते इत्यर्थाः । ३ मन एव मानसम् “प्रज्ञादिभ्यः” ६।२।५२ इति श्यार्थः अण

अथेदानीं प्रोपधोपवासलक्षणं शिक्षाव्रत व्याचक्षाणः प्राह—
प्रोपधोपवास शिक्षाव्रतका लक्षणं कथ्यते है—

पर्वण्यष्टम्या च ज्ञातव्यं प्रोपधोपवासस्तु ।

चतुरभ्यवहार्याणां, प्रत्याख्यानं सदेच्छामि ॥

प्रोपधोपवासं पुनर्ज्ञातव्यं । कदापर्वणि चतुर्दश्यां, न केवलं पर्वणि, अष्टम्या च । किं पुनः प्रोपधोपवासशब्दाभिधेयं “प्रत्याख्यानं” केषां ? “चतुरभ्यवहार्याणां” चतुरारिं अशनयानखाद्यलेह-
लक्षणानि । तानि चाभ्यवहार्याणि च भक्षणीयानि तेषां । किं कस्यां चिदेवाष्टम्यां चतुर्दश्यां च तेषां प्रत्याख्यानमित्याह— सदा सर्वत्राल ।
वामि ३०४ भिन्नविधानवाञ्छामिस्तेषां प्रत्याख्यानं, न पुनर्व्य-
वहारशतधरण्यवादिभिः ॥ १०६ ॥

अन्वय - पर्वणि—चतुर्दश्यां च अष्टम्यां चतुरभ्यवहा-
र्याणां प्रत्याख्यानं तु पुनः सदा इच्छामि समं चतुरभ्यवहार्याणां
प्रत्याख्यानं प्रोपधोपवासं ज्ञातव्यं ।

१-सर्वास्मिन् काले इति सदा “सदा सद्यः” धा१।१२६
इति निपात्य ।

२-सहार्धेन” १।३।३४ इति सम्बन्धे भा । इच्छामि वाञ्छामि
स्मृतनामम् । ३-अभ्यवहर्तुं भोक्तुं याग्यानि “ण्य” २।१।१२२
इति ऋमि अयं गि पूर्वाकं ह्यघो ण्य । अभ्यवहियते अयन्ते
इति वा षभ्यवहार्याणि तयोर्व्यासस्वार्था २।३।८ कर्माणं त्य
सदिच्छामिरिति पाठे तु । सतः समीचीनस्य वृत्तस्य इच्छा
भ्रमि न तु स्वराज्यलिप्सामि ।

निरुक्ति - चत्वारि चाऽभ्यवहार्ये गीति चतुरभ्यवहार्याणि
तेषां । तथा प्रोषधे पर्वणि उपवास प्रोषधोपवास ।

अथ—पर्व चतुर्दशी और अष्टमीके दिन अन्न पान
साध लेहा इन चारो प्रकारके भोजनोंका त्याग करना
और पर्व दिनोंके अतिरिक्त अ य समस्त दिनोंमें भी अपनी
इच्छा के अनुसार व्रतविगानके उद्देशसे चारो प्रकार
के आशोंका त्याग करना जो प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत
जानना अर्थात् यह प्रोषधोपवास पर्वके दिनोंमें तथा
अन्य दिनोंमें भी घड़ी दो घड़ी प्रहर दो प्रहर आदि कालों
में भोजनोंका त्याग अबवा दो एक प्रकारके भोजनोंका
प्रत्याख्यान करे । यह केवल पर्व दिनोंके लिये ही नहीं
है समस्त कालके लिये भी होता है । यह कथन “तु” पद
से जाना जाता है ।

उपवासदिने चोपोयितेन किं कर्तव्यमित्याह—

उपवासके दिन भोजनोंका ही याग होता है या
अन्य विषयोंका भी ? उत्तर—औरोंका भी हाता है ऐसा
बताते हैं—

पश्चान्ना पापानामलक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम् ।
स्नानाञ्जननस्याना मुपवासे परिहृतिं कुर्यात् ॥
उपवासदिने परिहृतिं परित्याग कुर्यात् । केयां ? पश्चान्नां

पापानां हिंस्रदीनां । तथा अत्रक्रियारम्भगन्धपुष्पाणाम्, अत्रक्रिया
मण्डनम्, आरम्भो वाणिज्यादिव्यापारगन्धपुष्पाणामित्युपसङ्ग
रागहेतूनां गीतवृत्तानाम् । तथा “स्नानाञ्जननस्यानाम्” स्नान
च अञ्जन च नस्यश्च तेषाम् ॥ १०७ ॥

अन्वय - उपरमे ऽञ्चानां पापानाम् अत्रक्रियारम्भगन्ध
पुष्पाणां स्नानाऽञ्जननस्यानां गारहर्णे कुर्यात् ॥

निरुक्ति - अत्रक्रिया च आरम्भश्च गन्धश्च पुष्प च इति
अत्रक्रियारम्भगन्धपुष्पाणि तेषाम् तथा स्नान च अञ्जन च नस्य
च इति स्नानाञ्जननस्यानि तेषां ।

अर्थ उपरामके दिन पांचों पार्षोष्ठा और आभूषणादिक
अलङ्कार तथा कृषि वाणिज्य आदि आरम्भोष्ठा, गन्धोष्ठा,
पुष्पोष्ठा, स्नान करनेका, अञ्जन आजनेका तथा नस्य
आदि सूचनेका त्याग करे ॥ १०७ ॥

एतेषां परिहारं कृत्वा किं तद्दिनेऽनुष्ठायमिष्याह -

इनका परित्याग कर उम दिनका कर्तव्य बताते हैं-

धर्माभूतं सत्पुण्यं श्रवणं, भूषणं पितृपुत्रपाययेद्धान्यान्
ज्ञानध्यानपरो वा, भवतूपवमन्त्रतन्द्रालु ॥१०८॥

उपवसन्तुपवाम कुर्यान् धर्माभूतं पितृपुत्र धर्म एवाभूतं सकल-

१-नासिकायै हितमिति नस्यम् “प्राप्यङ्गुरपञ्चलम व म्राड
वृषप्रहृतिलाघ ” ३४८ इति य । पुन “धेऽवर्णे” ४।१।२१५
इति नासिका शब्दस्य नस्य आदेश ।

प्राणिनामप्यायत्रात् तत् पितृत्वं । धाम्याः श्रवणाभ्याम् ।
 कथमृतः सत्पुण्यं सामिलाप पितृत्वं न पुनरुपरोधादिवशात् ।
 स्वपमनवगतधर्मस्वरूपस्तु अ यतो धर्ममृत पितृत्वं । पापयेद्वायान्
 वा स्वपमनवगतधर्मस्वरूपस्तु अ यानविदिततत्स्वरूपान् पापयेत् ।
 वा 'ज्ञानध्यानपरो' भवतु, ज्ञानपरो द्वाःशानुप्रेक्षाद्युपयोगनिष्ठ ॥

अधुनाशरणे च न मय एकत्वमेव च ।

अयत्त्वमशुचिः च तर्धेवास्रवमरौ ॥ १ ॥

निर्जरा च तथा लोकगोधिदुर्लभधमता ।

द्वादशैता अनुमक्षा भाषिता जिनपुगवै ॥ २ ॥

'ध्यानपरः' अज्ञापायनिपात्रमर्यानविचयलक्षणाधर्मध्याननिष्ठ
 भवतु । किं विशिष्टः अतद्रालु निद्रालस्यरहितः ॥

अन्वय अतद्रालु श्रावक उपवसन् सन् सत्पुण्यः श्रवणा-
 म्यां धर्माभूत पितृत्वं वा अ यान् पापयेत् वा ज्ञानध्यानपर भवतु ।

निरुक्त धर्म एव अमृत धर्माभूत त, तथा तृपुण्या सह वर्त-
 ते इति सत्पुण्यः । ज्ञान च ध्यान च ज्ञानध्याने । तयो पर ज्ञान

ध्यानपर न तद्रालु अतद्रालु ।

१-पा पाप्मे जिज्ञासाद् धो त्रिह "जाता साहा ध्ययेपा युक्त"

५।२।४३ इति युगागमाः । पापयेत् श्रावयेत् ।

२-तेन ममेति तुल्ययोगे' १।२।६५ अनेन घसः । "वा
 नीच" ४।३।२४ इति महर्षयः स । ३ "निन्द्रा तन्द्राश्रद्धा
 शीघ्रदुर्बल्युद्विगुद्विपतैराक। ३।३।५५ इति

अर्थ- निरालस होता हुआ उपवास करनेवाला शिष्याव्रती रुचि महित कानोंसे धर्मरूपी अमृतको पीवै और दूरसे जो पिलावें तथा ज्ञान ध्यानमें उत्पर रहे ॥ १०८ ॥

अधुना प्रोषधोपवासस्तद्वक्षणं कुर्वाणः—

उपवास प्रोषध और प्रोषधोपवासका लक्षण कहते हैं—
चतुराहारविसर्जनं उपवासं प्रोषधं सवृद्धुक्तिः ।
स प्रोषधोपवासो, यदुपोष्यारम्भमाचरति १०९

चत्वारश्च ने अहारश्चाशनपानरमाद्यलेहलक्षणा, अशन हि भक्तमुद्राऽपि, पान इ पिपयमृतादि, स्वाद्य मोदकादि, लेह्य रमादि तेषां विसर्जनं परित्यजनमुपवासो विधीयते । प्रोषध. पुन सवृद्धुक्तिः धारण्यदिने एव भक्तविधान । यत्पुनरुपोष्य उपवासं कृत्वा पारण्यदिने अरभ सवृद्धुक्तिमाचरत्युत्तिष्ठति स प्रोषधोपवासोऽभिधीयते इति ॥ १०९ ॥

अन्वय - चतुराहारविसर्जनम् उपवासं भवति सवृद्धुक्तिः प्रोषधं, भवति । यद् उपोष्य आरभम् आचरति स प्रोषधोपवासः ॥

निरुक्ति - चतुर्णाम् आहाराणाम् विसर्जनम् चतुराहारविसर्जनम् । एष वारमिति सवृत् (एष वार) भुक्ति सवृद्धुक्ति प्रोषधेन सह उपवासं प्रोषधोपवासः ॥

१—सवृत् ४ । २ । २३ इति एक शब्दात् सुच ग्य सवृदा-
देशश्च । तत्स सात् आशस इत्यादिनां १ । १ । ८८ भित्तहा

अर्थ-चारों प्रकारके आहारोंका छे डना सो उपवास है। दिनमें एकबार भोजन करना सो प्रोषध है। जो उपवास करके पारणाके दिन एक बार भोजन करे सो प्रोषधोपवास है।

अथ वेऽस्यातीचारा इत्याह—

प्रोषधोपवास शिक्षात्रतके अतीचार मनाते हैं—

ग्रहणविसर्गस्तरणा न्यदृष्टमृष्टान्यनादरास्मरणे
यत्प्रोषधोपवासम व्यतिलङ्घनपञ्चक तदिदम् ॥

प्रोषधोपवासस्य व्यतिलङ्घनपञ्चक मतिचारपञ्चक। तदिदं पूर्णार्धप्रतिपादितप्रकार। तथा हि। 'ग्रहणविसर्गास्तरणानि त्रीणि' कथं भूतानि ? 'अदृष्टमृष्टानि' दृष्ट दर्शन "ज-तव मति न सतीति या" चक्षुषालोकन, मृष्ट मृदुनोपकरणेन प्रमाजन, तदुभौ न विचने येषु ग्रहणादिषु तानि तयोक्तानि। तत्र बुभुक्षापीडितस्या-दृष्टमृष्टस्यार्थादात्प्रोषधोपवासस्यात्मपरिभानार्थस्य च ग्रहणं भवति। तथा अदृष्टमृष्टायां भूमौ मूत्रपुरीषादेरुत्सर्गं भवति। तथा अदृष्टमृष्टे प्रवेशे आस्तरणं सस्तरोपजमो भवतीत्येतानि त्रीणि। अनादास्मरणे च द्वे। तथा आवश्यकतादौ हि बुभुक्षापीडितत्वाद्-नादरोऽनेनाप्रतालक्षणमस्मरणं भवति ॥ ११० ॥

अथ तत् इदं प्रोषधोपवास—व्यतिलङ्घनपञ्चकं भवति यत् अदृष्टमृष्टानि ग्रहणविसर्गास्तरणानि च अनादरास्मरणे।

निरुक्ति—व्यतिलङ्घनानां पञ्चकमिति व्यतिलङ्घनपञ्चकम्।

प्रोपधोपवासस्य व्यतिलाघनपञ्चकमिति प्रोपधोपवासव्यतिर्लाघनपञ्च-
कम् । दृष्ट च मृष्ट च दृष्टमृष्टे न नियेते दृष्टमृष्टे येषु तानि दृष्ट-
मृष्टानि । ग्रहणं च त्रिसर्गैरचारतरणं चेति दृष्टत्रिसर्गैरतरणानि ।
अनादरश्च अस्मरणं चेति अनादरास्मरणे ।

अ. सो ये प्रोपधोपवासके पांच अतीचार हैं जो कि
बिना देखे बिना शोधे ग्रहण करना १ बिना देखे बिना
सोधे रगना २ आर बिना देखे बिना शोधे आमन आदि
को बिठाना ३ अनादर करना ४ बिधिभ्रं भूल जाना ५ ॥

इदानीं वैयावृत्यलक्षणशिक्षाव्रतस्य स्वरूप प्ररूपयन्नाह -

वैयावृत्य शिक्षाव्रतका लक्षण बताते हैं -

दानं वैयावृत्यं धर्माय तपोधनाय गुणनिधये ।

अनपेक्षितोपचारो पत्रियमगृहाय विभवेन । १११

भोजनादिदानमपि वैयावृत्यमुच्यते । कस्मै दानं ? 'तपोधनाय'
तप एव धनं यस्य तस्मै । किंविशिष्टाय ? 'गुणनिधये' गुणानां सम्य-
ग्दर्शनादीनां निधिराश्रयस्तस्मै । तथा ऽगृहाय भावद्रव्यागाररहिताय
त्रियम् ? 'धर्म'य' धर्मनिमित्त । किं विशिष्टं तदानं ? 'अनपेक्षितो-
पचारोपक्रियम् उपचारं प्रतिदानं, उपक्रियां गंत्रनशादिनां प्रत्युप

१-मृजुप शुद्धी धो क । "अथ अस्मिन् सृज मृज यज राज
म्राजच्छशा प" ५।३।७१ इति जस्य प । २-यि गौ सृजौ त्रिसर्गे
धो घन । घ जो बुधिण्ये तेऽनिटः ५।२। ६४ इति जस्य ग ।

करण, तेन अपेक्षते येन । कथं तदान ? 'विमवेन' विधिद्रव्यादि
सम्पदा ॥ १११ ॥

अन्याय अगृहाय तपोधनय गुणनिधये विमवेन दान
वैयावृत्य भवति दानम् कीदृश अनपेक्षितोपचरोपक्रियम् किम
धर्म ? धर्माय ॥

निरुक्त - व्यावृत्ते* कम भावो वा वैयावृत्यम् । तपः एव धन
यस्य स तपो रत्न । तस्मै तपोधनाय । गुणानां निधि गुणनिधि
तस्मै गुणनिधये । न अपेक्षित उपचार* उपक्रिया च यस्मिन्
तद् अनपेक्षितोपचारोपक्रियम् । नास्ति गृह यस्य स अगृह
तस्मै अगृहाय ।

अर्थ-गृहत्यागी तपस्वी चारित्र्यादि गुणोंके निधान
ऐसे साधुओंकी आहारादिकोंका अपनी सुयोग्य सम्पत्ति
के अनुसार शुद्ध आहार औषधि उपकरण और वसतिका
(स्थान) का प्रदान करना सो वैयावृत्य शिक्षाव्रत है।
कैसा है यह प्रदान ? नहीं है प्रतिदान (बदलेमें किसी
वस्तुका लेना) और प्रत्युत्पन्न (मन्त्र तन्त्र औषधि आदि
की वांछा) जिससे कितलिये करता है ? अपने गृहस्थ धर्म
की प्राप्ति और वृद्धिके लिये ।

१-राजपत्यन्तगुणोक्ति राजादिभ्यः कृत्ये च ३ । ४ । १४१
इति ध्येण् । पदे न्न पेशीप् पादाए इति षेप् ।

२ "सम्प्रदानेऽपि" १ । ४ । २३ 'कर्मणोपेय सम्प्रदानम्
२ । २ । १२६ धाम्या सम्प्रदानसंज्ञा--अपि च विभक्ती ।

न केवलं दानमेव वैषावृत्यमुच्यतेऽपि तु

दानके अतिरिक्त अन्य भी वैषावृत्य है, ऐसा बताते हैं-

व्यापत्तिव्यपनोद , पदयो मत्राहन च गुणरागात्
वैषावृत्तं यावा नुपद् होऽन्योऽपि सयमिनाम् ॥

“व्यापत्ति-व्यपनोद ” व्यापत्तयो त्रिभिधा व्याख्यादिजनिता आपदस्त.सा व्यपनोदो त्रिशेषेणापनोद स्फोटन यत्तद्वैषावृत्यमेव । तथा ‘पदयो मत्राहन’ पादयोर्मदन । करमात् ‘ गुणरागात् भक्ति वगादित्यत्र न पुनर्व्यवहारात् दृष्टान्तापेक्षणाद्वा । न केवल मेतान्तेव वैषावृत्यं त्रितु श्रयोऽपि सयमिनां देशमरुलयतीनां सम्बन्धी यावात् यत्परिमाण उपग्रह उपकार स सर्वो वैषावृत्य-मेवोच्यते ॥ ११२ ॥

अथय — गुणरागात् सयमिनां व्यापत्तिव्यपनोद वैषा-
वृत्यं भवति । गुणरागात् सयमिनां पदयो मत्राहं वैषावृत्यं
भवति । अपि च गुणरागात् सयमिनां यावात् श्र य उपग्रहः तावान्
सर्वेऽपि वैषावृत्यं भवति ॥

निरुक्ति गुणेषु रत्नत्रयेषु धनुराग गुणानुरागः तस्मात्
गुणानुरागात् । सयमं विद्यते येषां ते सयमिनः तेषां सयमिनाम् ।
व्यापत्तीनां व्यपनोदः परिहारः व्यापत्तिव्यपनोद ॥

१-पद् मानसस्य यावान् “यत्तद् ” ३।४।२८६ इति यत् त्व

२-अतोऽनेकाच्च ४।१।७६ इति इन् त्व ।

अर्थ-गुणोत्तम अनुरागरु होनेसे सयमियोंका आपत्तिका दूर करना भी वैयाघृत्य है । गुणानुरागसे सयमियोंक धरणोंका दावना भी वैयाघृत्य है तथा गुणानुरागसे सयमियोंका नितना अर्थ भी उपकार करना उतना सर्व ही वैयाघृत्य है ॥ ११२ ॥

अथ किं दानमुच्यते इत्यत आह—

जो दान वैयाघृत्य है उसका वर्णन करते हैं—

नवपुण्यैः प्रतिपत्तिः, सप्तगुणसमाहितेन शुद्धेन ।
अपसूनारम्भाणां मार्याणामिष्टत दानम् ॥११३॥

दानमिष्यते । कामोऽप्रतिपत्तिः गारव्यं अदारस्वरूपा ।
केषाम् आर्याणां सदृशनादिगुणोपेतकानां । किंनिशिष्टानां ।

अपसूनारम्भाणां सूना पच जीवघानस्थानानि । तदुक्तम् ।

खटनी पेपणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जना ।

पचसूना गृह्यते तेन मोक्षं न गच्छति ॥

खटनी-खलूनन, पेपणी घट्ट, चुल्ली-चुलका, उदकुम्भ
उदकघट, प्रमार्जनी बोहिका । सूनाधारमाश्च कृष्यादयस्तेऽपगता
येषां तेषां । केन प्रतिपत्तिः उक्तव्याः सप्तगुणसमाहितेन ।

श्रद्धा तुष्टिर्भक्तिर्गङ्गा नमस्तुभ्यता क्षमा मृत्युः ।

यस्यैते सप्तगुणास्तदात्तारं प्रशमन्ति ॥

इत्यतः सप्तभिर्गुणसमाहितेन तु दाना दानं दातव्यं । कैः
-कृत्वा नवपुण्यैः —

पट्टिगहमुच्चट्टाण, पादोदयमञ्चण च पेणम च ।

मणवयणकायसुद्धी एमणसुद्धी य नत्रिड पुण्ण ॥

एतेनैवमि पुण्ये पुण्योपार्जनहेतुमि ॥ ११३ ॥

अत्रय* सप्तगुणसमाहितेन श्रावकेन नवपुण्यं धपसूना
रम्भाणाम् आर्याणां प्रतिपत्ति दानम् इष्यते ॥

निरुक्ति - नत्र च यानि पुण्यानि तानि नत्रपुण्यनि ते नव-
पुण्ये । सप्त ते गुणारच सप्तगुण्य । सप्तगुण्य समाहित* इति
सप्तगुणसमाहित । तेन सप्तगुणसमाहितेन । सूनेरव श्रावम्भाय
सूनारम्भा । अप्रगता सूनारम्भा येषां ते अपसूनारम्भास्तेषां तथा ।

अर्थ-मान गुणवाला मज्जनातीय श्रावक द्वारा नव या
भक्तिसे पचसून और मर्यं तगहके आरभ रहित आर्याको
(सुनीश्वरोंको) त्रियोंको मत्कार पूर्ण जो जादारादिनोंका
प्रदान करना है उसे अ चाग्रोने दान माना है ॥ ११३ ॥

इत्य दीयमानस्य फल दर्शयन्नाह —

१-समाधायि इति समाहित । सम् जाट पवक बुधान
घारणे च घो कगणित्त 'घाप्रो ह्नि' -२-१६१ इति हिराशः ।
शररोदृत इत्यर्थः । २-ओषुड प्राणिगमदिमोचने अदादे घोक्तः
"ओदित" ५-३-८७ अनेन त्यस्य नकागदेश । स्यात्वे टाप्
सूना-वधालयः । 'सूनात्र या पुण्यिते पुण्ये जिह्वाकले वधालये
इत्याजयः । सूनापुण्या वधरधाने गलशुण्डिक्योरपि इति
रि श्वः । तेषां भदा नामानि संसृतटीकातो ज्ञातव्यानि ।

इय प्रकार दिये हूवे दानका करु बताते हैं—

गृहकर्मणापि निश्चित

कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।

अतिथीना प्रतिपूजा

रुधिरमल धावते वारि ॥ ११४ ॥

विमार्ष्टि स्फे रति । खलु स्पुष्ट । किं तत् १ कर्म पाररूप । कय
 मूत २ निविनमपि उ ॥ जिनमपि पुष्टमपि च । केन २ गृहकर्मणा
 सायकपाशरेण । काऽमौ वही २ प्रतिपूजा दान । केयमपि २
 अतिथीना न विद्यते निश्चयेना तेया । किं विशिष्टाना गृहविमुक्ताना
 गृहग्रहितानाम् । अस्थै रर्थस्य समर्थनार्थं दृष्टान्तमाह—‘रुधिरमल
 धावते वरि अल शब्दो यथार्थे । अपमर्षो, रुधिर यथा मलिनम-
 पवित्र च वरि घट्ट निर्मल पवित्र च धावते प्रक्षालयति तथा दान
 पाप विमार्ष्टि ॥ ११४ ॥

अन्वय — यथा वारि रुधिरमल धावते तथा अतिथीना
 प्रतिपूजा खलु गृहकर्मणापि निश्चित कर्म विमार्ष्टि । कय भूतानाम्
 अतिथीना, गृहविमुक्तानाम् ।

१-विशेषेण मार्षिं गोध्यतीति विमार्ष्टिं । मृन्मय शुद्धी घो
 मदादे लट ति । “हृदादेच्छुप” २।१।८२ धनेन शन उप । मृजे
 ५।५।२।१। इति बेरु आर । प्रश्न ब्रह्म सुतहृत्र यज्ञ राम
 ब्राह्मच्छा ५।३।०१ इति सत्य मठकम् ।

निरुक्ति-रुधिर एव मल रुधिरमल* तम् । इति प्रामा-
दिका, किंतु असिमसिंक्रुष्यादिसूनादिक चैति रुधिरमिति कर्म
कारकम् । अलमित्यव्यय यथार्थवाचकम् । गृहस्य कर्म गृहकर्म
तेन गृहकर्मणा । गृहात् विमुक्ताः ते गृहविमुक्ता, तेषाम् ।

अर्थ-जैसे जल रक्तको शुद्ध कर देता है उसी तरह
मुनिराजोंकी पूजादि त्रैयावृत्त्य भी गृहस्थियोंके गृहकार्योंसे
उत्पन्न हुये पापकर्मको शुद्ध कर देते हैं । कैसे हैं वे साधु
जिन्होंने गृहका त्याग कर दिया है ॥ ११४ ॥

साम्प्रत नवप्रकारेषु प्रतिग्रहादिषु क्रियमाणेषु कस्मात् किं
फल सम्पद्यत इत्याह—

किस किस प्रतिपत्तिसे (त्रैयावृत्त्यसे) क्या क्या फल
मिलता है सो क्रममे बताते हैं

उच्चैर्गोत्रं प्रणते भोगो दानादुपामनात्पूजा ।

भक्तेः सुन्दररूप, स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ।

तपोनिधिषु यतिषु । प्रणते प्रणामकरणाद्दुच्चैर्गोत्रं भवति ।
तथा दानाद्दानशुद्धिलक्षणाद्भोगो भवति । उपासनात् प्रतिग्रहादि-
रूपान् सर्वत्र पूजा भवति । भक्तेर्गुणानुगागननितात् श्रद्धाविशे

१-प्राणनाद शास्त्रके अनुसार जलका गुण रुधिरको शुद्ध
करना भी है । इसलिये "रुधिरम्" यह द्वितीयात्त पद कर्म
कारक है और "मलम्" यह अव्यय पद यस्तु स्वरूपका द्योतक है
यही टीकाकारका है ।

पलङ्गणाय सु दरूप भवति । स्तवनात् श्रुतजलधीत्यादिस्तुति
विधानात् सर्वत्र कीर्तिर्भवति ॥ ११५ ॥

अन्वय - तपोनिधिषु प्रणते उच्चैर्गोत्र भवति तपोनिधिषु
दानात् भोग भवति तपोनिधिषु उपासनात् पूजा, तपोनिधिषु भक्ते
सुदररूप, तपोनिधिषु स्तवनात् कीर्तिर्भवति ॥

निरुक्ति - उच्चै यत् गोत्र उच्चैर्गोत्रम् । सुदर च यत् रूप
सुदररूपम् । तपसा निधय तपोनिधयः तेषु तपोनिधिषु ॥

अथ-तपोनिधिषोको प्रणाम करनेसे उच्चगोत्र व-
धता है । उनको दान देनेसे भोगसामग्री प्राप्त होती है ।
तथा उनकी उपासना करनेसे पूजा होती है । उनकी
भक्ति करनेसे दिव्य रूप मिलता है । उनका स्तवन करने
से जगतम कीर्ति फैलती है ॥ ११५ ॥

नन्वेवमिध विशिष्ट फल स्वयं दान कथं सम्पादयतीत्या-
शङ्काऽपनोदार्थमाह-

ऐसे उत्कृष्ट फलको स्वल्प दान कैसे प्राप्त क । सकता है ?
इम प्रश्नका उत्तर बताते हैं -

क्षितिगतमिव वटवीज,

पात्रगत दानमल्पमपि काले ।

फलति च्छायविभव,

बहुफलमिष्ट शरीरभृताम् ॥ ११६ ॥

अल्पमपि दानमुचितकाले पात्रगत सपात्रे दत्त शरीरमृतां
ससारिणामिष्ट फल वह्नेकप्रकारमुदररूप भोगोपभोगादिलक्षण
फलति । कथंभूत ? छायाविभव-छाया माहात्म्य, विभव सम्पत्, तौ
प्रियेते यत्र । अस्यैवार्थस्य समर्थनार्थं क्षितीत्यादिदृष्ट-तमाह क्षितिगत
सुक्षेत्र निक्षिप्त यथा अज्यमपि वटवीज बहुफल फलति । कथं ?
छायाविभव छाया आतपनिरोधिनी तस्या विभव प्राचुर्ये यथा भव
त्येव फलति ॥ ११६ ॥

अन्वयः -यथा क्षितिगतम् अल्पमपि वटवीज शरीरमृताम्
इष्ट काले छायाविभव यथास्यात्तथा बहुफल फलति तथा पात्रगतम्
अज्यम् अपि दान शरीरमृताम् इष्ट काले बहुफल फलति ।

निरुक्ति -क्षिती गत क्षितिगतम् । वटस्य बीज वटवीजम् ।
शरीर विभ्रति इति शरीरमृतं तेषाम् । (छायाया विभव छायाविभव-
सम्) छाया च विभवश्च प्रियेते यत्र तत् छायाविभवम्, पात्रे गत
पात्रगतम् । तद् च यत् फल तत् बहुफल ।

अर्थ-जैसे पृथ्वीमें बोया हुआ छोटासा भी बटका
बीज समयपर प्राणियोंको प्यारी ऐसी बहुत छायाको देता
है । उसीप्रकार सत्पात्रको थोड़ा सा भी दिया हुआ दान
प्राणियोंको योग्य महत्त्वको तथा सपदाको (समयपर बहुत
ऐसे उत्तम फलको) फलता है ॥ ११६ ॥

तच्चैवविधफलसम्पादकदान चतुर्भेद भवतीत्याह—

उस दानके भेद बताते हैं—

आहारौषधयोरप्युपकरणावासयोश्च दानेन ।
वैयावृत्यं ब्रुवते, चतुरात्मत्वेन चतुरस्रा ॥११७॥

वैयावृत्यं दानं ब्रुवते प्रतिपादयति च । कथं ? चतुरात्मत्वेन
चतुःप्रकारत्वेन । के तैः ? चतुरस्रा पण्डिताः । तानेषु चतुःप्रकारान्
दर्शयन्नाहारेत्याद्याह आहारश्च भक्तपानादि औषधं च व्याधिरुपेष्टक
द्रव्यं तयोर्द्वयोरपि दानेन । न केवलं तयोरेव अपि तु उपकरणा-
वासयोश्च उपकरणं ज्ञानोपकरणं आवासो वसतिकादि ॥

अथ चतुरस्रा चतुरात्मत्वेन वैयावृत्यं ब्रुवते । कथं-
भूतेन चतुरात्मत्वेन ? आहारौषधयोः दानेन अपि च उपकरणा-
वासयोः दानेन ।

निरुक्तिः — चत्वार आत्मनः स्वरूपा यस्य तत् चतुरात्म
तस्य भावः चतुरात्मत्वः । व्यावृत्ते कम् वैयावृत्यम् । आहारश्च
औषधश्च आहारौषधौ तयोः । उपकरणं च आवासश्च उपकरणा-
वासौ तयोः । चत्वार अस्मात् कोणा द्रव्यक्षेत्रकालभावाः येषां ते
चतुरस्रा निद्रांसः ।

१-ज्ञानदान और धनदान नहीं कहे हैं क्योंकि ये महा-
प्रतियोगिके ही होते हैं ।

२-गा भूमिं योनिं प्रायते रक्षतीति गोत्रं कुलम् । यत्र उच्यते
मनुष्यादिशरीरस्य उपादानानि रजासि घोर्षाणि तेषां चोत्पा-
दकस्त्रीपुरुषशरीराणामुत्पत्त्यो निर्दोषः उत्तमाचरणं च यत्
तत् उच्यते गोत्रं भवति ।

अर्थ— बुद्धिमान् गणधरदेवोंने चार भेदोंसे वैया-
वृत्यको कहा है। कौनसे वह चार भेद हैं ? आहारदान,
औषधदान, उपकरणदान, वसतिकादान ॥ ११७ ॥

विशेष—ग्रहस्थ श्रावक इनही चारों दानोंको करना है। उप-
करणमें शास्त्र पिच्छिका कमण्डलु साडी गोपी कौपीन लेखनी
मसी कागज शय्यादिक हैं। वसतिकादानमें धर्मशाला जिन-
मदिर शास्त्रमंडार विद्यालय पाठशाला विहार इत्यादिक हैं ये
चार प्रकारके दान महाप्रती मुनि आदिोंका वानप्रस्थ आदि पुज्य
महापुरुषोंको देनेमें भक्तिदान, ० शुभता ग्रहस्थोंको, ब्रह्मचारिणो
नैष्ठिक धर्मप्रभावक पाठक आदिको देनेसे उत्तम समदत्ति है।
ज्ञानदान और धर्मदान ये दोनों ही दान महाप्रती साधु
केउला श्रुतकेउली (ही मुख्यतासे) करते हैं। इसीसे इस उपा-
सकाध्ययनमें (श्रावकाचारमें) ये ही चार दान बताये हैं।

तच्चतुष्प्रकार दान किं केन दत्तमित्याह—

द नफल भोगनेवालोंक ऐतिहासिक नाम बतलाते हैं—

श्रीपेणवृषभसेने कौण्डेश सूकरश्च दृष्टान्ता ।

वैयावृत्यस्यैते, चतुर्विकल्पस्य मन्तव्या ॥११८॥

चतुर्विकल्पस्य चतुर्विधस्य वैयावृत्यस्य दानस्यैते श्रीपेणादयो
दृष्टान्ता मन्तव्या ।

तत्राहारदाने श्रीपेणो दृष्टान्त । अस्य कथा—

मलयदेशे रत्नसचयुरे राजा श्रीपेणो राज्ञी सिंहनिदिता

द्वितीया अतिदिता च । पुत्रो क्रमेण तयोरिन्द्रोपेन्द्रौ । तत्रैव ब्राह्मण
 साल्किनामा, ब्राह्मणी जम्बू, पुत्री सत्यभामा । पाटलिपुत्रनगरे
 ब्राह्मणो रुद्रभेजे षट्कान् वेद पाठयति । तदीयचेटिकापुत्रश्च
 कपिलनामा तीक्ष्णमतिश्चात् छत्रना वेद शृण्वन् तत्पारगो भवति,
 रुद्रभेजेन च कुपितेन पाटलिपुत्रान्निर्घाटित । सोत्तरीय यज्ञोपवीत
 परिधाय ब्राह्मणो भूत्वा रत्नसचयपुरे गत । साल्किना च त वेद-
 पारग स्वरूप च दृष्ट्वा सत्यभामाया योग्योऽयमिति मत्वा सा तस्मै
 दत्ता । सत्यभामा च रतिसमये विटचेष्टां तस्य दृष्ट्वा कुलजोऽय न
 भविष्यतीति सा सम्प्रधार्य चित्त विपाद षट् ती तिष्ठति । एतस्मिन्
 प्रस्तावे रुद्रभट्टस्तीर्थयात्रा कुर्वाणो रत्नसचयपुरे ममामातः । कपि
 लेन प्रणम्य निज म्वलगृहे नीत्वा भोजनपरिधानादिक कारयित्वा
 सत्यभामाया सङ्कलोकानां च मदीयोऽय पितेति कथितम् । सत्य
 भामया चैकदा रुद्रभट्टस्य विशिष्ट भोजन बहुसुवर्णं च दत्त्वा पाद
 योर्नमित्वा पृष्ट तात । तत्र शीलस्य लेशोऽपि कपिले नास्ति नत-
 क्रिमयत्त पुत्रो भवति न वेति सत्य मे कथय । ततस्तेन कथित
 पुत्रि । मदीयचेटिकापुत्र इति । एतत्प्राकृत्ये तदुपरि विरक्ता सा हठा-
 दय मामभिगमिष्यतीति भवा सिद्धिर्ना दत्ताप्रमहादेव्या शरण
 प्रतिष्ठा तथा च सा पुत्री ज्ञाना । एतमेकदा श्रीपण्डराजेन परम
 भक्त्या निधिपूर्वमर्ककीर्षमितगतिचारणमुनिभ्यो दान दत्तम् ।
 तत्फलैः राजा सह भोगभूमवुपजा । तदनुमोदनात् सत्यभामापि
 तत्रैवोत्पन्ना । स राजा श्रीपण्डो दानप्रथममारणात् पारपयैश्च शा-
 १ ॥ १ ॥ जात । आहारदानफलम् ॥ १ ॥

औपमदाने वृषभसेनाया दृष्टात् । अस्या कथा—

जनपददेशे कावेरीपत्तने राजोप्रसेन , श्रेष्ठी धनपतिः, भार्या धनश्री , पुत्रा वृषभसेना, तस्या धात्री रूपवतीनामा । एकदा वृषभसेनास्नानजलगतीया रोगगृहीत बुक्कुर पतितलुप्तितोषित रोगरहितमालोक्य चिन्तित धात्र्या, -पुत्रीस्नानजलमेवात्रारोग्यत्वे कारणम् । ततस्तया धात्र्या निजजनन्या द्वादशवार्षिकाक्षिरोगगृहीताया कथिते तया लोचने तेन जलेन परीक्षार्थमेकदिने धौते दृष्टी च शोभने जाते ततः सर्वरोगापनयने सा धात्रा प्रसिद्धा तत्र नगरे सजाता । एकदो-ग्रमेनेन रणपिगलमत्री चट्टसंयोपेतो मेघपिगलोपरि प्रेषित । स तद्देश प्रविष्टो त्रिपोदकसेवनात् ष्वरेण गृहीत । स च व्यधुःश्यागत रूपवत्या च तेन जलेन निरोगीकृतः । उप्रसेनोऽपि कोपात्तत्र गत तथा अरितो व्याधुःश्यायातो रणपिगलाञ्जलवृत्ता तमारण्यं तन्मलयाचितवान् । ततो मत्री उक्तो धनश्रिया भो श्रेष्ठिन् ! कथं नरपते शिरसि पुत्रीस्नानजलं क्षिप्यते ? धनपतिनोक्तं यदि पृच्छति राजा जलस्वभाव तदा सत्यं कथ्यते न दोषः । एव मणिते रूपवत्या तेन जलेन नीरोगीकृत उप्रसेन । ततो नीरोगेण राज्ञा पृष्टा रूपवती जलस्य माहात्म्यम् । तया च सत्यमेव कथितं । ततो राज्ञा व्याहृतं श्रेष्ठी, स च भीतः राज्ञं समीपमायातः । राजा च गौरव कृत्वा वृषभसेना परिणेतुं स याचितः । ततः श्रेष्ठिना भणितं देव ! यद्यथाहिकां पूजां जिनप्रतिमानां करोषि तथा पजरस्थान् पक्षिगणान् मुञ्चसि तथा गुप्तिषु सर्वमनुष्यांश्च मुञ्चसि तदा ददामि । उप्रसेनेन च तत् सर्वं कृत्वा परिणीता वृषभसेना पट्टराज्ञी च कृता । अति

वल्लभया तयैव च सह विमुक्तानाकार्थ्यं क्रीडा करोति । एतस्मिन्
 प्रस्तावे यो वाराणस्या पृथिवीच द्रो नाम राजा धृत आस्ते सोऽति-
 प्रचण्डत्वात्तद्विवाहकालेऽपि न मुक्तः । ततस्तस्य या राज्ञी नारा-
 यणदत्ता तया मत्रिभिः सह मत्रयित्वा पृथिवीच-द्रमोचनार्थं वारा-
 णस्या सर्वत्रावारतसंकारा वृषभसेनाराज्ञीनाम्ना वारिता, तेषु
 भोजनं कृत्वा कावेरीपत्तनं ये गतास्तेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यस्त वृत्तात्
 माकर्ण्य रुष्टया रूपयत्वा भखिना वृषभसेने त्वं गामपृच्छती वारा-
 णस्या वयं सत्कारान् कारयसि' तया भणितमहं न कारयामि
 किंतु मम नाम्ना केनचित्कारणेन केनापि वारिता तेषां शुद्धिं
 कुरु त्वमिति चरपुर्यं कृत्वा यथार्थं ज्ञात्वा तया वृषभसेनाया सर्वं
 कथितम् । तया च राजानं विज्ञाप्य मोक्षितः पृथ्वीच द्र । तेन च
 चित्रफलके वृषभसेनोत्प्रेनेनयो रूपे वारिते । तयोश्चो निजरूप
 सप्रणाम वारितम् । स फलकस्तयोर्दर्शितं भणित्वा च वृषभसेना
 राज्ञी देवि ! त्वं मम मातासि त्वत्प्रसादादिदं जन्म सफलं मे जातं ।
 तत उत्प्रेनेन स मानं दत्त्वा भणितम् त्वया मेघपिङ्गलस्योपरि
 गतं यमियुक्त्या स च ताम्बा वाराणस्यां प्रेषितः । मेघपिङ्गलो
 ऽप्येतदाकर्ण्य ममायं पृथ्वीच द्रो मर्मभेदीति पर्यालोच्य गल्य चोत्प्रे-
 सेनस्यातिप्रसादितं शामं तो जातं । उत्प्रेनेन चास्थानस्थितं
 तस्य वने प्राप्नुतमागच्छन्ति तस्यायं मेघपिङ्गलस्य दास्यामि अर्धं
 च वृषभसेनाया इति व्यवस्था कृता । एकमेकदा रत्नकचलद्रव्यमागतं
 सनामाङ्कं कृत्वा तयोर्दत्तं । एकदा मेघपिङ्गलस्य राज्ञी
 मेघपिङ्गलकचलं प्रावृत्तं प्रयोजनेन रूपवतीपार्श्वे गता ।

तत्र कम्बलपरितो जात । एकदा वृषभसेनाकम्बल प्रावृष्य
 मेघपिंगल सेवायामुमसेनसभायामागत, राजा च तमालोक्याति
 कोपाद्रस्ताक्षो बभूव । मेघपिंगलश्च त तथाभूतमालोक्य गमोपरि
 वुपितोऽय राजेति ज्ञात्वा दूर नष्ट । वृषभसेना च रुष्टेनोमसेनेन
 गारुण्यं समुद्रजल निक्षिप्ता । तथा च प्रतिज्ञा गृहीता 'यदि एत
 स्माद्रूपसर्गाद्बुद्धिरिष्यामि तदा तप करिष्यामीति' । ततो वनमाहा
 रम्याज्जलदेवतया तस्या* सिंहासनादिप्रातिहार्यं कृतम् । तच्छुत्वा पश्चा
 चाप कृत्वा राजा तामानेतु गत । आगच्छता वनमध्ये गुणधर-
 नामाऽवधिनानी मुनिर्दृष्ट । स च वृषभसेनया प्रणम्य निजपूर्व-
 भवचेष्टित पृष्ट । कथित च भगवता, यथा-पूर्वभवे त्यमत्रैव ब्राह्मण
 पुत्री नागश्री नामा ज्ञातासि । राजकीयद्वन्द्वे सम्मार्जन करोषि ।
 तत्र देवकुले चैकदाऽपराहणे प्राणाराम्यतरे निर्वातगर्वायां मुनि
 दत्तनामा मुनि पर्यङ्कनायोःसर्गेण स्थित । त्वया च रुष्टया भणित
 कटकाद्राजा समायातोऽत्रागमिष्यतीत्युत्तिष्ठोत्तिष्ठ सम्मार्जन करोमि
 (तत्र) लग्नेति पुत्राणायास्तत्र मुनि वायोःसर्गं विनाय मौनेन
 स्थित* । ततस्त्वया कचनारेण पूरित्वोपरि सम्मार्जन कृतम् ।
 प्रभाते तत्रागतेन राज्ञा तत्प्रदेशो क्रीडता उच्छ्वसितनि असितप्रदेश
 दृष्ट्वा उत्वन्य नि मारितश्च स मुनि । ततस्त्वयात्मनिदां कृत्वा
 धर्मं रचि* कृता । परमादरेण च तस्य मुनेस्त्वया तत्पीडोपशमनार्थं
 त्रिशिष्टमौषधदानं वैयावृत्य च कृतम् । ततो निदानेन मृत्वेह धनपति
 धनश्रियो पुत्री वृषभसेना नाम जातासि । औषधदानफलात् सर्वा
 पधार्द्धिफल जातम् । कचनारपूरणात् फलविता च । इति श्रुत्वात्मान

मोचयिष्य वृषभसेना तत्समीपे आर्यिका जाता । औषधदानस्य
फलम् ॥ २ ॥

श्रुतोपकरण (श्रुत) दाने कौण्डेशो दृष्टात् । अस्य कथा—
कुर्मणिग्रामे गोपालो गोविन्दनामा । तेन च कोटराद्गु-
हृत्य विरतनपुस्तकं प्रपूज्य भक्त्या पद्मनदिमुनये दत्तम् । तेन
पुस्तकेन तत्राटव्यां पूर्वभद्रारका केचित् किल पूजा कृत्वा कार-
यित्वा च व्याख्यानं कृतवत् कोटरे धृत्या च गन्तव्यं । गोत्रि-
न्देन च वाक्यात्प्रभृति त दृष्ट्वा नित्यमेव पूजां कृत्वा वृक्षकोटरे
स्थापितम् एव भूयात् पुनर्दर्शनमिति । स गोविन्दो निदानेन मृत्वा
तत्रैव ग्रामकूटस्य पुत्रोऽभूत् । तमेव पद्मनदिमुनेमालोक्य जानिस्मरो
जात । तपो गृहीत्या कौण्डेशनामा महामुनिः श्रुतधरोभूत् । इति
श्रुतज्ञानस्य श्रुतोपकरणदानस्य फलम् ॥ ३ ॥

वसतिदाने सूक्तरो दृष्टात् । अस्य कथा—

मालवदेशे घटग्रामे कुम्भारो देविलनामा, नापितश्च धमिल्ल
नामा । ताभ्यां पयिरुजनानां वसतिनिमित्तं देवकुलं कारितम् ।
एकदा देविलेन मुनये तत्र प्रथमं वसतिर्दिता धमिल्लेन च पश्चात्
परिव्राजकस्तत्रानीय धृत । ताभ्यां च धमिल्लपरिव्राजकाभ्यां
नि सारितं स मुनिर्वृत्तमूले रात्रौ दशमशकशीतादिकं सहमानं
स्थितं, प्रभाते देविलग्रमिल्लौ तत्कारणेन परस्परं युद्धं कृत्वा मृत्वा
निष्ये क्रमेण सूक्तरोऽपि प्राडौ जातौ । यत्र च गुहायां स सूक्त-
रो तत्रैव च गुहायामेकदा समाभिगुप्तत्रिगुप्तमुनी आगत्य
तौ च दृष्ट्वा जातिस्मरो भूत्वा देविलचरसूक्तरो धर्ममाकर्ष्य

अत्र गृहीतवान् । तत्प्रस्तावे मनुष्यगघमाप्राय मुनिभक्षणार्थं स
 व्यमोऽपि तत्रायात* । सूकरश्च तपो रक्षानिमित्तं गुहाद्वारे स्थितः ।
 तत्रापि तौ परस्परं युद्धं च मृतौ । सूकरो मुनिरक्षणाभिप्रायणं शुभा
 निसिधत्वात् मृत्वा सौधमें महर्द्धिको देवो जातः । व्याग्रस्तु मुनि-
 भक्षणभिप्रायेणातिरौद्राभिप्रायत्वात् मृत्या नरकं गतः । वसति-
 दानस्य फलम् ॥ ४ ॥

अर्थ— चतुर्विक्रयस्य वैषावृत्यस्य एते दृष्टाता
 मन्तव्याः । एते के ? श्रीपणवृषभमेले कौण्डेश च सूकरः ।

निरुक्तिः— चारो विक्रया यस्य तद् चतुर्विक्रय तस्य
 चतुर्विक्रयस्य । श्रीपणश्च वृषभमेना च इति श्रीपणवृषभमेने ।

अर्थ— चारों वैषावृत्योंके ये चारों दृष्टात समझने
 चाहिये । वे कौन हैं ? आहारदानमें श्रीपण और ओषध
 दानमें वृषभसेना, उपकरणदानमें कौण्डेश और वसतिका
 दानमें सूकर पशु ।

यथा वैषावृत्यं निदधता चतुर्विंशं दानं दातव्यं तथा पूजाविशान-
 नमपि यन्त्रपमिस्ताइ—

ऐसे चतुर्थ शिक्षाव्रतीक चारों दान बताये हैं उभी
 प्रकार जिनपूजन विज्ञान भी करना बताते हैं—

देवाधिदेवचरणे, परिचरणं सर्वदुःखनिर्हरणम् ।

कामदुहि कामदाहिनि परिचिनुयादादृतो नित्यम्

१-भा सेना यस्य स ध्यायज । "पत्यग" ५१३६७ पञ्चम् ।
 पुन "पुनोणोऽमिल्ले" ५१३६६ धनेन च णकारस्तेठ ।

आहत आदरयुक्तो नित्य परिचिनुयात् पुष्ट कुर्यात् । किं ? परिचरण पूजा । किंविशिष्ट ? सर्वदु खनिर्हरण नि.शेषदु खविना शरु । क्व ? देवाधिदेवचरणे देवानामिन्द्रादीनामधिको बन्धो देवो देवाधिदेवस्तस्य चरण. पाद तस्मिन् । कथंभूते ? कामदुहि वाञ्छितप्रदे । तथा कामदाहिनि कामप्रियसके ॥ ११६ ॥

अन्वयः—देवाधिदेवचरणे नित्य आहृतं परिचरण परिचिनु यात् । कीदृशे देवाधिदेवचरणे ? कामदुहि पुन कामदाहिनि किंभूत परिचरणम् ? सर्वदु खनिर्हरणम् ॥

निरुक्ति—देवानाम् अधिदेव देवाधिदेव । देवाधिदेवस्य चरण देवाधिदेवचरण तस्मिन् देवाधिदेवचरणे । सर्वाणि दु खानि निर्हरति इत्येव शील सत्रदु खनिर्हरणम् । काम भोग दोग्ध इति कामधुक् तस्मिन् । काम म मथ ददति इत्येव शील तत् कामदाहि तस्मिन् ॥

अर्थ—देवाधिदेवके चरणीकी हमेंगा आदरसहित पूजा भक्ति करे । कैसे है भगवानक चरण ? मनोवाछित फलके देनेवाले और काम ज्वरके जलानेवाले हैं । कैसी

१-आठ पूर्वक दृष्ट्वाद्दे धो त् । "आहृतो सादरा चिंता" इत्यमर । प्रथमान्त ।

२-कामपूर्वकदुहौज क्षरणे धो 'पियव' शरु.७४ इति कर्त्तरि क्विप त्य । ३-कामपूर्वक दद भस्मीकरणे धो "शीलेऽजातो णिन् शरु.७८ इति णिन् त्य ।

है वह पूजा ? सम्पूर्ण प्रकारके दुःखोंको दूर करने वाली है ॥ ११९ ॥

पूजामाहात्म्य कि क्वापि केन प्रकटितमित्याशङ्क्याह—

जिनपूजनके महत्त्व प्रकट करनेवालेका नाम बताते हैं—
अर्हच्चरणसपर्यामहानुभाव महात्मनामवदत् ।
भेकः प्रमोदमत्त , कुसुमेनैकेन राजगृहे ॥१२०॥

भेकः मण्डक प्रमोदमत्तो विशिष्टवर्मानुरागेण हृष्ट अश्वत्
कथितवान् । किमित्याह—अर्हदित्यादि, अर्हतरचरणौ अर्हधरणौ
तयो सपया पूजा तस्या महानुभाव विशिष्ट माहात्म्य । केषामवदत्
महात्मनां भव्यजीवानां । केन वृत्वा ? कुसुमेनैकेन । क्व ? राजगृहे ।

अस्य कथा—

मगदेशे राजगृहनगरे राजा श्रेणिक, श्रेष्ठी नागदत्त श्रेष्ठिनी
भवदत्ता । स नागदत्त श्रेष्ठी सर्पदा मायायुक्तत्वा मृत्वा निजप्राङ्गण
वाप्या भेको जात । तत्र चागतामेकदा भवदत्तां श्रेष्ठिनीमालोक्य
जातिस्मरो भूत्वा तस्या समीपे श्वागत्य उपर्युत्प्लुत्य चटितः । तथा च
पुन. पुनर्निर्घाटितो रटति, पुनरागत्य चटति च ततरतया कोऽप्यय
मनीय इष्टो भविष्यतीति सम्प्रधार्यावधिज्ञानी सुव्रतमुनि पृष्टः ।
तेन च तद्वृत्तांते कथिते गृहे नीत्वा परमगौरवेणासी धृत ।
श्रेणिकमहाराजश्चैवदा वर्षमानस्वामिन वैभारपर्वते समागत
माकर्ष्य आनन्दमेरी दापयित्वा महता विभवेन त वदितु गतः ।
श्रेष्ठियादी च गृहजने वदनामवत्यर्थं गते स भेक प्राङ्गणवापी-

हैं (रौनसे वे पाच) जो कि हरित पिधाने (हरित पत्रों से ढकना) हरित निधान (हरित पत्रमें रखना) २ अनाद आदरसे दानको न देना वा देकर पाश्चात्ताप करना अस्मरण विधिका भूल जाना ४ और मत्सरभाव दूस दाताओंकी प्रशंसाको न सहना ५ ॥

इति श्रीसमतभद्रस्वामिविरचिते रत्नकरण्डनाम्नि उपासकाध्ययने गौरीलालसिद्धातशास्त्रिणा निरुक्ताया पञ्जिकाया हिन्दीभाषाया च सद्गुरुत्ताधिकारे शिक्षाप्रतयणतो नाम पञ्चम परिच्छेद ।



सद्वृत्तं संलेखनाधिकारः पष्ठः ।

अथ सागारिणामणुव्रतादियत् संलेखनाध्यनुष्ठानव्या सां च
किंस्वरूपा कदाचानुष्ठातव्येत्याह—

जिस प्रकार गृहस्थ श्रावक अणुव्रत गुणव्रत और
शिक्षाव्रतोंका पालन करता है उसी प्रकार संलेखनाव्रत-
का भी पालन करता है, अतएव संलेखनाका स्वरूप,
उसके प्रसूहोनेका प्रयत्न और उसका समय क्या है ?
ऐसा बताते हैं—

उपसर्गे दुर्मिक्षे, जरसि रुजायां च निष्प्रतीकारे ॥ १ ॥
धर्मयं तनुविमोचन माहुः संलेखनामार्या १२२

आर्या गणधरदेवादयः संलेखनामाहुः । किं तद् ? तनु-
विमोचन शरीरत्यागः । कस्मिन् सति ? 'उपसर्गे तिर्यङ्मनुष्यदेवो-
ऽचेतनकृत्ते । निष्प्रतीकारे अतीकारागोचरे । एतच्च विशेषणं दुर्मिक्ष-
जरा रुजानां प्रलेप सम्बन्धीयं । 'किमर्थं तद्विमोचनं ?' धर्मयं रक्ष-
प्रयाराधनार्थं नः पुन परस्य ब्रह्महत्याधर्मम् ॥ १२२ ॥'

अन्वय—उपसर्गे दुर्मिक्षे जरसि च रुजायां निष्प्रतीकारे

१-जराया इत्य- ५१।१७५ (इति किं परे कस्तादेशः) ।

२-प्रतिपूर्णाकं कृद्यो घञ् । एतो "घञि" प्रायः" ४।३।२६

सति धर्माप तनुविमोचनम् ध्याया सल्लेखनायुं ध्याह् ॥

निवृत्तिः—दुर्गता दुष्प्राप्या मिथा भिक्षिता भक्षया यस्मिन्
समये क्षेत्रे वा स दुर्भिक्ष तस्मिन् । निगत प्रतीकारः चिकित्सा
यस्मात् स निप्रतीकार तस्मिन् । ततो शरीरस्य विमोचन एव जन
मिति तनुविमोचनम् ॥

अर्थ—उपसर्ग, दुर्भिक्ष, घुट्टापा तथा रोग इनको
असाध्य (वेइलाज) होनेपर जो धर्मार्थ शरीरको छोड़
दना उसको आचार्य सल्लेखना कहते है ॥ १२२ ॥

सल्लेखनायां भव्यैर्नियमेन प्रयत्नः, कर्तव्योऽत आह—

“सल्लेखनाके निमित्त निरतर प्रयत्न करना चाहिये”-
ऐसा बताते हैं ।

अन्तक्रियाधिकरण, तप फलं सकलदर्शिनःस्तुवते

इत्यनेन प्रतीश दस्य दीप्तम् । निदु र्धद्विश्वतुरायि प्रोदुस
५१११ इति शकारस्य सिः आदेशः । पुनः त्यादशयो पाठा१३
अनेन 'सूत्राय धर्मादाश' ।

इ-लिख श्वरत्रिन्यासे षण्त्ताद्धो भाषे 'प्या सिञ्छति' इ-
महि, ष-दाऽन २३३१४, इति अन त्यः । खात्वे 'अजायतां टाप्'-
अनेन च टाप् । लेखना तनूकरणम् । मम्-मभ्यङ् प्रकारेण लेखना
सल्लेखना । अथ नुमाह ॥ ५११११ अनेन समो म-रस्य अनु-
स्वारादेशः पुन 'वा उरु पदा-तस्य' पाठा१६० अनेन च अनुस्वा-
रस्य दसशक लंकारादेश सल्लेखना । तस्य च 'यप्राप्यम्'
१२२१४, इति वम सहा । 'धर्मणाप' १२२१ इति अम सुप् ।

तस्माद्यावद्विभवं, समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥

सकलदर्शिनः स्तुवते प्रशंसति । किं तव तपःफलं तपसः
फलं तपः फलं सकलं तप इत्यर्थः । कथंभूतं सर्वं अत्र क्रिया
धिकरणम् अत्र क्रिया सन्यास तस्या अधिकरणं समाश्रयो यत्तप-
स्तत्फलम् । यत एव । तस्माद्यावद्विभव यथाशक्ति समाधिमरणे
प्रयतितव्यं प्रकृत्यो यत् कर्तव्यं ॥ १२३ ॥

अन्वयः—सकलदर्शिनः, अत्र क्रियाधिकरणं तपःफलं स्तुवते
तस्मात् समाधिमरणे यावद्विभवं प्रयतितव्यम् ।

निरुक्ति—अत्र चरमे निधने या क्रिया तस्या अधिकरणम्
अत्र क्रियाधिकरणम् सन्यासमरणम् । सकलं युगपत् प्रयति
इत्येव शब्दो तस्यैकदर्शिनः । यावान् विभवं यावद्विभवम् ।
समाधिना सहितं मरणं समाधिमरणम् । प्रकृतेन यतितुं योग्यं
प्रयतितव्यम् ॥

अथ श्रीमन्नदेवोने अन्तिमं सन्यासकायाधिपत्यम्
जो तपका फलं है—उसीको प्रशंसित, क्रिया है इसलिये
समाधिमरणं साधनेन जितनी शक्ति है उतना अथवा
करो ॥ १२३ ॥

१-तपसाम् अणुनतगुणप्रशिक्षायतानाम् अनजनादीनां प्रशंस-
शिवच्छादीनां च । फलं लाभ इति २-इयं च सं गणितेता यत् ५२
३-‘शीलेऽनातो णिन्’ २।२।७६ ‘माधी’ २।२।-६ आभ्यां णिन् १।३
कर्त्तरि वा । १. ३. ६ ‘यावद्यथैवानिधे’ १।३.६ इति हसः
यावतो पूर्णतः यत्नं कर्त्तव्यं ।

तत्र, यत्न कुवार्ण एव कृत्वेद कुर्यादित्याह-
सस्लेखनाके प्रयत्न करनेकी, रीति बताते हैं-

स्नेहं वैरं सद्गः

परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।

स्वजन परिजनमपि च,

क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥

आलोच्य सर्वमेनः,

कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजिम् ।

आरोपयेन्महाव्रत-

मा मरणस्थायि निश्शेषम् ॥१२५॥

स्वयं क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजन परिजनमपि क्षमयेत् । किं कृत्वाः अपहाय कृत्वा । कं स्नेहमुपकारके, वस्तुनि प्रीत्यनुबन्ध । वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्ध । सगः पुत्रस्त्र्यादिक ममेदमहमस्येत्यादि-सम्बद्ध परिग्रह वाङ्माभ्य तरणः एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सः क्षमयेत् । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि । किं तत् महा-व्रतम्, कः, ममूतम्, आमरणस्थायि मरणपर्यन्त, निःशेष च एव प्रकारमपि । किं, कृत्वा आलोच्य । किं तत् एनो दोष । किं तत् सर्वं कृतकारितानुमतं च । स्वयं हि कृत द्विसादिदोष, कारित हेतु, मत्वेन, अनुमतमन्येन क्रियमाण मनसा श्लाघित । एतत्सर्वमेनो

निर्व्याज दशालोचनादोषवर्जित यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि
आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्त—

आकाप्यिय अणुमाणिय जंदिदृ वेदर 'च' 'सुरंग' 'च' ।

छण्ण सङ्घाउलंगं बहुजणं 'मंथत्तं' तंस्सेवी ॥१॥ इति ।

अ वय — ग्राहकः शुद्धमना 'सिन्' स्नेह वैरं 'सग' 'च' 'परि-
प्रहम् अपहाय प्रियै' वचनै स्वजनम् अपि 'च' परिजनम् क्षान्त्वा
क्षमयेत् । तथा कृतकारित च अनुमेत 'सर्गम्' 'एनः' निर्व्याजम्
आलोप्य आमरणस्यापि निरशेषम् महावनम् आरोपयेत् ॥२५॥

निरुक्ति शुद्धमनो यस्य स शुद्धमना । स्वस्य जेन, स्वर्चासौ
स्वकीयश्चासौ या जन स्वजेन तं स्वजेनम् । कृत 'च' कारित चानयोः
समाहार कृतकारितम् । निर्गत व्याजो दंभो यस्मात्तद् निर्व्या-
'जम् । मरणम् अमिव्याप्य इति आमरणम् । आमरणं तिष्ठनीत्येव
शीतम् आमरणस्यापि ॥

१- 'शीले ऽजातो णिन्' २।२।७८ इति णिन् ततः । 'दृष्त्री युक्'
३।५।२।३७ निर्गता न सत शेषा यस्मात् यस्मिन् वा तत् निश्चेषम् ।
२- ओहाक त्यागे घो 'परकालेककृत्वा' २।४।७ इति क्त्वा
स्थे । पुन अप शब्दस्य 'ति' १।२।१६० इति 'ति' संज्ञा ततः
'तिक्त्वाद्' 'दुः' १।३।८३ इति 'पसः' । 'प्यस्तिवाक्से' त्वः '५।१।३१
धनेन धरेवा त्यस्य प्यः धादेश । ३- आङ् 'पुत्रक' रह धीज जंमनि
इति घो णिच पुनः ४- 'रहः पः' ५।२।५० इति 'हकारस्थे'
पकारादेशे

तत्र यत्न कुर्वाण एव कृत्वेद-कुर्यादित्याह-

सल्लेखनाके प्रयत्न करनेकी रीति बताते हैं-

स्नेहं वैर सङ्गः

परिग्रहं चापहाय शुद्धमनाः ।

स्वजनं परिजनमपि च,

क्षान्त्वा क्षमयेत्प्रियैर्वचनैः ॥१२४॥

आलोच्य सर्वमेव,

कृतकारितमनुमतं च निर्व्याजम् ।

आरोपयेन्महाव्रत-

मा मरणस्थायि निश्शेषम् ॥१२५॥

स्वयं क्षान्त्वा प्रियैर्वचनैः स्वजनं परिजनमपि क्षमयेत् । किं कृत्वा ? अपहाय अक्त्वा । किं ? स्नेहमुपकारके ; वस्तुनि प्रीत्यनुबन्धा । वैरमनुपकारके द्वेषानुबन्ध । संगं पुत्रस्त्र्यादिक ममेदमहमस्येत्यादि-सम्बन्ध परिग्रहं वाद्याभ्यन्तरम् । एतत्सर्वमपहाय शुद्धमना निर्मलचित्तः सन् क्षमयेत् । तथा आरोपयेत् स्थापयेदात्मनि । किं तत् ? महा-व्रतम्, कथमनुमतम् ? आमरणस्थायि मरणपर्यन्त, निःशेषं च पञ्च प्रकारमपि । किं, कृत्वा ? आलोच्य । किं तत् ? एनो दोष । किं तत् ? सर्वं कृतकारितानुमतं च । स्वयं हि कृत विंसादिदोष, कारित हेतुः मत्वेन, अनुमतमन्येन क्रियमाणं मनसा श्लाघित । एतत्सर्वमेव ।

निर्व्याज दशालोचनादोषवर्जितं यथा भवत्येवमालोचयेत् । दश हि
आलोचनादोषा भवन्ति । तदुक्त-

आकाप्यय अणुभाणिपं जदिदृष्टं वादरं च सुदंभं च ।

छुण्ण सङ्घाउलंगं बहुजणं पंथ्वत्त तस्सेवी ॥१॥ इति ।

अत्रय — श्रावकः शुद्धमना 'सिन् स्नेह वैरं सगं च परि-
प्रहम् अपहाय प्रियैः वचने स्वजनम् अपि च परिजनम् क्षान्त्वा
क्षमयेत् । तथा कृतकारितं च अनुमतं सर्वम् एनः निर्व्याजम्
आलोच्य आमरणस्यापि निरशेषम् महाव्रतम् आरोपयेत् ॥ २५ ॥

निरुक्तिः शुद्धमनो यस्य स शुद्धमना । स्वस्य जनं स्वर्चासौ
स्वकीयश्चासौ वा जनं स्वजनं त स्वजनम् । कृतं च कारितं चानयोः
समाहारं कृतकारितम् । निर्गतं व्याजो दंभो यस्मात्तद् निर्व्या-
जम् । मरणम् अभिव्याप्य इति आमरणम् । आमरणं तिष्ठनीत्येष
शीलम् आमरणस्यापि ॥

१-शौले ऽजाती णिन् २२।७८ इति णिन् तत । 'कञ्जी युक्'
३५।२।३७ निर्गता न संत शेषा यस्मात् यस्मिन् वा तत् निशेषम् ।
२-आंहाक तथागे धो "परकालैककृत्वात् २।४।७ इति क्त्वा
स्य । पुनः अप शब्दस्य "ति" १।२।१६० इति ति संज्ञा ततः
'तिक्त्वाङ् दुः' १।३।८३ इति पसः । व्यस्तिवाक्से एवं ५।।३३
धनेन क्त्वा त्यस्य प्य आदेशः । ३-आङ् पूर्वकं रह धीज जमिनि
इति धो णिच पुनः ४-दहं प ५।२।५० इति "दहं प" पकारादेशः ।

स्निग्ध दुग्धादिरूप पान विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत् । कि
 वृत्वा २ परिहाप्य परित्यज्य । क २ आहार यवलाहाररूप । -कय २
 क्रमशः प्रागशनादिक्रमेण पश्चात् खरपान कजिकादिशुद्धपानीयरूप
 वा । किं कृत्वा २ हापयित्वा । किं २ स्निग्ध च स्निग्धमपि पानकः ।
 कय २ क्रमशः । स्निग्ध हि परिहाप्य कजिकादिरूप खरपान पूर
 येत् विवर्धयेत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानं यरूप खरपान पूर
 येदिति ॥ १२७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा । कय २ शक्या रशशक्तिमनतिक्र
 मेण स्तोत्रस्तोकतरादिरूप । पश्चादुपवास कृत्वा तनुमपि त्यजेत् ।
 कय २ सर्वयत्नेन सर्वरिगन् व्रतसयमचारिप्रध्यानधारणादौ यानस्ता
 त्ये तेन । किं विशिष्टं सन् २ पचनमस्कारमनाः पचनमरकारा
 ऽऽहितचित्त ॥ १२८ ॥

अन्वय—क्रमशः आहारम् परिहाप्य स्निग्ध पान विवर्धयेत्
 च क्रमशः स्निग्ध पान हापयित्वा खरपान मूरयेत्—अपि (पुनश्च)
 खरपानहापनामं शक्या कृत्वा अपि उपवास कृत्वा पचनमरकार—
 मना सन् सर्वयत्नेन तनु त्यजेत् ॥

निरुक्ति—खरस्य पान खरपानम् खरपानस्य हापना इति

१—“यह्ल्यार्थच्छस्कारकाद्द्वेषानिष्टे” ४।२।५७ ‘स्टवेका-
 द्वीप्तायाम्’ ४।२।५८ अयतराम्याम् अनिष्टार्थे भ्ल्यार्थकादि-
 यन्तात् । एक्यचनाच्च वीप्ताया वा शस् । क्विसत्त्वाद्
 विसत्त्वोक्तम् ॥ २—ओहाक् ष्यन्तात् ‘ष्यासविच्छ्रिघिघदि

। २।३।६४ इति अन स्त्रीत्ये टाप्र ॥

खरपानदापना ताम् । पचनमस्कारे मनो यस्य स पचनमस्कार-
मनाः ॥ सर्वरचासौ यत्न प्रयत्न इति सप्रयत्नः तेन ॥

अर्थ-वह समाधिमरण करनेवाला भावक अपनी
शक्तिके अनुसार क्रमसे आहारको घटाकर नीरस पेयको
ग्रहण करे और उस निमत्त्व पेयको भी त्याग कर उपवास-
को करि पचनमस्कारके स्वरूपमें मन लगाता हुआ सर्व-
प्रकारके यत्नसे शरीरको त्यागे ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अधुना सल्लेखनाया अतीचारानह-

अब सल्लेखना नामक घटके [शीलके] अतीचार
कहते हैं-

जीवितमरणाशसे, भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः ।
सल्लेखनातिचारा, पञ्च जिनेन्द्रैः समादिष्टा ॥

जीवित च मरण च तयोराशसे आकाङ्क्षे, भयमिह परलोकभयम्,
इहलोकमय हि क्षुत्पिपासापीडादिविषय परलोकभयम्-एवंविधदुर्ध
रानुष्ठानाद्विशिष्ट फल परलोके भविष्यति न चेति । मित्रस्मृति
बान्याघवस्याया सहक्रीडितमित्रानुरमरण । निदान भाविमोगाधा-
काक्षेण । एतानि पच नामानि येषां ते तन्नामान सल्लेखनाया
पचातिचारा जिने द्रैस्तीर्थकरैः समादिष्टा आगमेभ्रतिपादिता ॥ १२२ ॥

अर्थः-जिनेन्द्र सल्लेखनातिचारा पञ्च समादिष्टा ।

१-घञि प्राय ४।४।२६६ अथ प्राय ग्रहणात् पचच्चिद्विकल्पः
इति विकल्पपक्षे अति मे न दो । २ सम् आह् पुर्वाक दिश अति-
सर्जने धो कर्माणि च । "मश्चमस्त्र" इत्यादिना ४।१२।४०
५ । समादिष्टा कथिता ॥

स्निग्ध दुग्धादिरूप पान विवर्धयेत् परिपूर्णं दापयेत् । किं कृत्वा ? परिहाप्य परिलिख्य । क ? आहार कबलाहाररूप । क्रमशः क्रमशः प्रागशनादिक्रमेश्च पश्चात् खरपान कजिकादिशुद्धपानीयरूप वा । किं कृत्वा ? हापयित्वा । किं ? स्निग्ध त्व स्निग्धमपि पानकः । क्रमशः । स्निग्ध हि परिहाप्य कजिकादिरूप खरपान पूरयेत् विवर्धयेत् । पश्चात्तदपि परिहाप्य शुद्धपानं यरूप खरपान पूरयेदिति ॥ १२७ ॥

खरपानहापनामपि कृत्वा । क्रमशः शक्या स्वशक्तिमनतिक्रमेश्च स्तोत्रस्तोत्रतरादिरुम् । पश्चादुपवास कृत्वा तनुमपि लजेत् । क्रमशः सुवयनेन सर्वस्मिन् व्रतसयमचारिप्रथ्यानधारणादौ यत्नस्तात्पर्यं तेन । किं विशिष्टं सन् ? पचनमस्कारमना । पचनमस्काराऽऽहितचित्त ॥ १२८ ॥

अन्वय—क्रमशः आहारम् परिहाप्य स्निग्ध पान विवर्धयेत् च क्रमशः स्निग्ध पान हापयित्वा खरपान मूरयेत्—अपि (पुनश्च) खरपानहापनां शक्या कृत्वा अपि उपवास कृत्वा पचनमस्कारमना सन् सर्ववयनेन तनु लजेत् ॥

निरुक्ति—खरस्य पान खरपानम् खरपानस्य हापना इति

१—“यद्वृत्तार्थच्छस्कारकाद्वेष्टानिष्टे” ४२।१७ ‘स्वयेका-
द्वीप्सायाम्’ ४२।८ अयतराभ्याम् अनिष्टार्थं मत्पार्थकादि-
वन्तात् । एक्यचनाच्च वीप्साया वा शस्त् । मिस्रत्वाद्
विनाचीकम् । २—ओहाक् पयस्तात् ‘प्रयास्विच्छधिघट्टि
। २।३।४ इति धन स्त्रीत्वे टाम् ।

संज्ञानाम् । पचनमस्त्यारे मनो-यस्य स पञ्चनमस्कार-
म् । सवरचासो यत्नः प्रयत्न इति सर्वयत्नः तेन ॥

अर्थ-बहु समाधिमरण करनेवाला श्वावक अपनी
शक्तिके अनुसार क्रमसे आहारको घटाकर नीरस पेयको
श्रम करे और उस निसत्त्व पेयको भी त्याग कर उपवास-
श करि पचनमस्कारके स्वरूपमें मन लगाता हुआ सर्व-
प्रकार यत्नसे शरीरको त्यागे ॥ १२७ ॥ १२८ ॥

अधुना संल्लेखनाया अतीचारानाह-

अथ संल्लेखना नामक घतके [शीलके] अतीचार
इति है-

जीवितमरणाशसे, भयमित्रस्मृतिनिदाननामानः।
संल्लेखनातिचारा, पञ्च जिनेन्द्रे समादिष्टा ॥

अस्मिन् च मरणं च तयोराशसे आकाङ्क्षे, भयमिह परलोकभयम्,
इलोकभयं हि क्षुमिपासार्पिदिदि विषयं परलोकभयम्-एवंविधदुर्ध-
रानुग्रहान्निशिष्टं फलं परलोके भविष्यति न चेति । मित्रस्मृति
बन्ध्याद्वरस्यादां सहक्रीडितमित्रानुस्मरणं । निदानं भाविभोगाद्या-
काङ्क्षं । एतानि पञ्च नामानि येषां ते तन्नामानं संल्लेखनाया
पचानिचारा जिनेन्द्रैस्तीर्थकरैः समादिष्टा आगमे प्रतिपादिता ॥ १२२ ॥

अथ-जिनेन्द्र संल्लेखनातिचारा पञ्च समादिष्टा ।

स्वास्थ्य परमोदासीनता, प्रह्लादोऽनतसीढ्य, तृप्तिर्निपयानांकांक्षा,
शुद्धिर्दिव्यभास्वरूपकर्ममलरहितता, एता युजन्ति आत्मसम्बद्धा
ह्युत्ति ये ते तयोक्ता* । तथा निरतिशया अतिशयाद्विद्यादिगुण-
हीनाधिकभावान्निष्क्रान्ता । तथा निरवधमो नियतकालावधि-
रहिता । इत्यभूता ये ते ति श्रेयमभावसति । सुख सुखरूप नि श्रे-
यसम् अथवा सुख यथा भवत्येव ते तत्रावसति ॥११॥

अन्वय -विद्यादशनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धियुज निर-
तिशया निरवधम सत निश्रेयसु सुख यथा स्यात्तथा आव-
सति ॥१३२॥

निरुक्ति विद्या च दशन च शक्तिश्च स्वास्थ्य च प्रह्लादश्च
तृप्तिश्च शुद्धिश्च इति विद्यादशनशक्तिस्वास्थ्यप्रह्लादतृप्तिशुद्धय-
ता युजन्ति त तथा । निगतो अतिशयो येभ्य ते निरतिशया ।
निर्गता अप्रत्या येभ्य ते निरवधय ॥

अर्थ-वे विद्वपरमणी केवलज्ञान केवलदर्शन अनत
वीर्य परम उदासीनता अनत सुख, निपयोत्री अभिलाषा
रहित द्रव्य भावजर्मो र रहित, परम्पराम न्यूनान्निष्क्रान्ता
रहित और कालावधिरहित हत, हृद्ये उम अनन्यमर्म
सुखस्वरूप स्थिर रहै उस प्रकार निरास करते हैं ॥१३२॥

*- 'वसोऽनूपाध्याड', १।२।१४२ इति अधिकरणकारकस्य
कर्म सहा 'कर्मणीप्' । द्वितीया विभक्त्या ।

कामने काले कालेति पञ्चपितृ मिदानी विद्वद् वषाभवो
 अविद्यया च पञ्चिद्यया निरवधपरनेतारो कालमह—)

उनके निरभिज्ञता और निरवधिपना कमी भी नष्ट
 नहीं होगा ऐसा बताया है ।

काले उत्पन्नानेऽपि च,

गते शिवानां न विक्रिया लक्ष्या ।

उत्पानोऽपि यदि स्यात्,

निरक्तिः—कल्पानां शतम् कल्पशतम् तस्मिन् । त्रिलोकस्य
सम्भूतिं त्रिलोकसम्भूतिः तस्या करणे विधाने पटु समर्थ
इति त्रिलोकसम्भूतिपरणपटुः ॥

अर्थ—सैकड़ों कल्पकालोंके ज्यतीत होनेपर भी सिद्ध
परमात्माके विकार नहीं होता। यदि कदाचित् तीन लोक
को अमण करावेमें समर्थ ऐसे उपद्रव भी हो जाय तो हो
जाय किंतु तो भी सिद्धोंमें विक्रिया नहीं होती अर्थात् न
तीन लोकको उलटनेवाला कभी उपद्रव होता है' और न
सिद्धोंके विकार होता है ॥ १३३ ॥

ने तत्राविकृतात्मान सदा स्थिता किं भुवतीत्याह—

वे शुद्ध, परमात्मा सदा निरन्तर ठहरे, हुवे क्या करते,
हैं? सो प्रताते हैं—

निःश्रेयसमधिपन्नास्त्रैलोक्यशिखामणिश्रिय'दधते
निष्कट्टिकालिकाच्छवि, चामीकरभासुरात्मानः ॥

नि श्रेयसमधिपन्नाः प्राप्तास्ते दधते धरति । कां ? श्रेयोवपः
शिखामणिश्रिय त्रैलोक्यस्य शिखा चूडाऽग्रमागरतत्र - मणिश्री
चूडामणिश्री ताम् । किंविशिष्टा सतः—इत्याह—निष्कट्टेत्यादि
विष्ट च । कालिका च ताम्यां निष्कृता सा छविर्यस्यः तद्या-
मीकारं च सुवर्णं तस्येव भासुरो निर्मलतया प्रकाशमान ध्यात्मा
स्वरूप येनाम् ॥ १३४ ॥

अत्रय - तिथ्रयनम् अधिपता पुण्या निधिदृक्कानिका-
च्छविचामीकरभासुरात्मने सत त्रैलोक्याशब्दामणिस्रय दधते ॥

निष्क्ति किं च वालिका च किङ्कलिके, निर्गते
निदनाठिके यस्या सा निधिदृक्कालिका । निधिदृक्कलिकाच्छ
त्रियस्य तत् निधिदृक्कालिकाच्छति । निधिदृक्कालिकाच्छति च यत्
चामीकर तत् निधिदृक्कालिका द्रविचामीकरम् तस्य इव भासुरो
निर्मल आत्मा स्वरूपो येषां ते तथा ॥

१-अधिरणकारक "कालाञ्जमाचदश धाऽङ्गमे घानाम्
१।२।१८४ अना फमानशा । २ अधिपूर्वाकपद्गतौ धोः छ- त्य ।
द्राक्षस्य तोनोऽमत्पृम्डाम् ५।३।८० इति दक्षारतकारवोः नकारा-
देशी । निर्घाणे माक्षे प्राप्ता प्रतिष्ठिता इति यावत् ।

३-काल कृष्णवर्णाऽस्ति अस्यामिति कालिक "आहाट्टण्
३।४।२२ अनेण ठण् त्य काऽत्रण एव कालिका "ठण्" ४।२।२१ इ
इति सार्धे ठण । 'कालिमच्छवि' पाठे तु कालस्य कृष्णवर्णस्य
भाव स्वरूप इति कालिका "यणदृहादिभ्यष्टण च ३।४।४०
इति इमन् ।

४-भासने इति भासुर भास दीप्ती धो "भास् मिदुमञ्जो
घुर" २।२।५७ इति घुर २४ ।

५-त्रिलोक एव त्रैलोक्यम् ण्य । "भेषजाश्चिभ्यष्टवण्"
४।२।२८ धनेन स्वार्थे ट्यण ।

६-धाञ् धारणे च "हृदादेरञ्जुप्" ५।१।८२ इति शप उवे

अथ मोक्षम प्राप्तं हुये पुरुष कीट और कालिमा
रहित नै छवि निमकी ऐसे सुवर्णरु ममान रदीप्यमान है
स्वरूप जिनका ऐसे होते हुये तीन लोकरु चूड़ामणिकी
शोभाको धारण करते रहते हैं ॥ १३४ ॥

एव सन्नवनामनुष्ठिता नि श्रेयमलक्षण फल प्रतिपाद्य
अभ्युदयतक्षण फल प्रतिपादयन्नाह -

तो मन्लेखना करने गालेके रत्नत्रयसे अभ्युदय होता
है उसका स्वरूप बताते हैं ।

पूजार्थाञ्जैश्वर्यं बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठै ।
अतिशयितभुवन मद्भुत मभ्युदय फलति सद्धर्म ।

अभ्युदय इन्द्राग्निदायासिंहासन फलति अभ्युदयफल
वदाति । कोऽसौ सद्धर्म मन्लेखनानुष्ठानोर्गर्हित विशिष्ट पुण्यम् ।
वर्धभूतनभ्युदयम् अद्भुत साश्वर्यम् । रूपभूत तदद्भुत अति
गयितमुवन या । कै कृत्वा पूजार्थाञ्जैश्वर्यं ऐश्वर्यशब्द पूजा
र्थाज्ञानां प्रत्येक सम्बन्धने । किं विशिष्टैरेतैरित्याह बलेत्यादि बल
सामर्थ्यं, परिजन परिवार, कामभोगी प्रसिद्धौ । एतैर्भूयिष्ठा अति
गयेन रश्मो येषु । एतैरुपलक्षितैः पूजादिभिरनिशयितमुवन
मिष्यथ. ॥ १३५ ॥

अन्वयः सद्धर्म अद्भुतम् बलपरिजनकामभोगभूयिष्ठै
पूजार्थाऽऽजैश्वर्यं अतिशयितभुवनम् अभ्युदयम् फलति ॥ १३५ ॥

निरुक्तिः—सन् सम्यङ् चासौ धम सद्व्रम । बलश्च परिजनश्च
कामरश्च भोगरश्चेति बलपरिजनकामभोगाः । ते भूयिष्ठा बहुतमा येषु
तै, तथा । पूजारश्च श्रद्धारश्च आद्वा चेति पूजार्थात् । तासाम् च
ऐश्वर्यानि इति । तै अनिशयितम् उत्कृष्टम् सुवनम् पद लोको
पस्मिन् स त तथाम्बरूपम् ॥ १३५ ॥

अर्थ वह उत्तम धर्म आश्चर्यकारी और बल(सामर्थ्य)
परिजन काम भोग ये हैं प्रचुर जिनम णसे तथा पूजाका
ऐश्वर्य पु-पायोका ऐश्वर्य आ आनाका ऐश्वर्य इाकरि
उत्कर्ष (महत्त्व) युक्त ऐस पद (परमस्थान) को फले है
यथान् इन्द्रपद चक्रवर्तीपद और तीर्थंकरपदको प्राप्त
करना है ॥ १३५ ॥

इति ध्यात्ममन्त्रमन्त्रस्याभिरुचिरे रत्नकरण्डनाभि
उपासकाध्ययने गीरीलाल मिश्रातशास्त्रिणा
निरुक्तायां पञ्चिकायां हिन्दीभाषायां च सद्
वृत्ताधिकारे सल्लेखना वर्णनो नाम
पद्य परिच्छेदा ।

१-प्रचुराः बहव इति भूयिष्ठा 'भूयिष्ठे' ४।३।१६७ मतेन ५ या-
देशः । २-अति पूर्णश्च शोड् स्वप्ने धो कः इत्यागमश्च ।

देशव्रतिकेषु श्रेणिभेदाधिकारः सप्तमः

साम्प्रत योऽसौ सलपनानुष्ठाता श्रावकस्तस्य कति प्रतिमा भवतीत्याशङ्क्याह

सम्यग्दर्शन अणुव्रत गुणव्रत सिद्धाव्रत और सल्लेखना इन चौदह गुणोंको (व्रतोंको) धारण करनेवाले श्रावकोंके श्रेणि (पद स्थान प्रतिमा मेट) हैं या नहीं ? यदि है तो कितने हैं और उनके चारित्र कैसे हैं ? ऐसा बताते हैं

श्रावकपदानि देवै रेकादश देशितानि येषु खलु स्वगुणाः पूर्वगुणै सह, सतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धा ॥

देशितानि प्रतिपादितानि । कानि १ श्रावकपदानि श्रावकगुण स्वानानि श्रावकप्रतिमा इत्यर्थः । कति १ एकादश । के १ देवैस्तैर्भ करे । येषु श्रावकपदेषु मन्त्रेषु सतिष्ठतेऽवस्थितिं कुर्वन्ति । के ते १ स्वगुणा स्वकीयगुणस्थानसम्बन्धा गुणा । के सह १ पूर्वगुणै पूर्वगुणस्थानवर्तिगुणै सह । क्रमविवृद्धा १ सम्यग्दर्शनमार्दि कृत्वा एकादशपर्यन्तमेकोत्तरवृद्धया क्रमेण विशेषेण वधनामाः ॥ १३६ ॥

अर्थः—देवैः श्रावकपदानि एकादश देशितानि, येषु स्वगुणाः पूर्वगुणै सह खलु क्रमविवृद्धा सन्त सतिष्ठन्ते ॥

१- 'सहाय्येन' ११३१३५ अनेन सम्बन्धे

२- 'छा गतिनिवृत्ती'

निर्दिष्ट, श्रावकस्य पदानि गुणस्थानानि इति भावकप-
दानि । स्वस्य गुणा चारित्र्याणि स्वगुणा । पूर्वस्य गुणा व्रतानि
पूर्वगुणा तै, पूर्वगुणा । क्रमेण विवृद्धा ते क्रमविवृद्धा ।

अर्थ गणधर देवोंने श्रावकोंके ग्यारह पद उपदेशे हैं
(बताये हैं) जिसमें अपन अपने पदके चारित्र्य पूर्वपदके
चारित्र्योस युक्त होते हुये ही क्रमस उड़ने हुये (तग्यार-
पन्निपुष्ट होत) रहत ह ॥ १३६ ॥

एतदेव दशमब्राह्मण-

उन्मेष प्रथम दाग्निश्च श्रावकका लक्षण रहते है-
सम्यग्दर्शनशुद्ध, ससारशरीरभोगनिर्विण्ण ।
पञ्चगुरुचरणशरणो, दर्शनिकस्तत्त्वपथगृह्य १३७

दर्शनमस्यास्तीति दशनिको दशनिश्च श्रावको भवति । विवि-
शिष्ट १ "सम्यग्दर्शनशुद्ध" सम्यग्दर्शन शुद्ध निरतिचार यस्य अस्-
यनसम्यग्दृष्टि, (दृष्टे) कोऽस्य विशेष इत्यत्राह- "ससारशरीर-
भोगनिर्विण्ण" इत्यनेनास्य लेशनो व्रताशसुभवात्ततो विशेष प्रति-
पादित । एतद्ब्राह्मण तत्त्वपथगृह्य तत्त्वानां व्रतानां पथानां मार्गा-
मवादिनिवृत्ति-लक्षणा अष्टमूलगुणास्तं गृह्या पक्षा यस्य, पञ्च
गुरुचरणशरण पञ्चगुरव पञ्च परमेष्ठिनस्तेषां चरणा शरण
मया यपरिरक्षणोपायो यस्य ॥ १३७ ॥

१'स ध्यवप्रात् १।१।२१ अनेन द पदम् । सतिष्ठतं तत्तच्चारित्र्याणि
सस्थानं कुतश्चे ।

अन्वयः सम्यग्दर्शनशुद्धः स सारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्च
गुरुचरणशरणः तत्त्वपथगृह्यः स दर्शनिकः श्रावकः भवति ॥१३७॥

निरुक्ति - सम्यग्दर्शनेन शुद्धः स सम्यग्दर्शनशुद्धः ।
ससारश्च शरीरश्च भोगश्च इति ससारशरीरभोगाः । ससारशरीरभोगेभ्यः
निर्विण्णः ससारशरीरभोगनिर्विण्णः पञ्च ते गुरवः पञ्चगुरवः ।
पञ्चगुरवणां चरणानां शरणं यस्य स पञ्चगुरुचरणशरणः ।
दर्शनं विषये यस्य स दर्शनिकः । तत्त्वस्य चारित्रस्य पथा तत्त्वपथ
तत्त्वपथस्य गृह्यं तत्त्वपथगृह्यं ॥

अर्थः ज्ञा पुरुषः सम्यग्दर्शनमशुद्धं स ससारशरीर
भोग इतसे विरक्तः है (अच्छा नहीं समझता है) पञ्चपर
मेष्ठीके चरणोंका भी है शरण जिसको और चारित्र
सार्गरी पक्षम है (चारित्रके अर्थोंको ग्रहण किये हुये है) सो
दर्शनिक श्रावक है (पथम पन्थ है) ॥१३७॥

(१) निसर्पर्वान् विदधोत् 'डात्तरय तो नोऽमत्पृमुर्त्ता'
५।३।८० अनन तस्य तत्पारादेशः । 'त्ये' ५।५।१५४ दम्य नित्य
नकारादेशः । पन्थात् 'निविण्ण' ७।५।१५१ धनेन पन्थारादेशः ।
'पृता पृ' ५।५।१३३ इति तस्यापि ण । निविण्ण दम्य धात्मान
रक्षितुकामः ।

(२) दर्शन शील यस्य स दर्शनिकः । शाले ठण । दर्शने
भक्तिरस्य भक्ति " ३।८० "कुश" ३।३।१८ अन्वयाच्च ठ,

तस्येदानीं परिपूर्णदेशत्रयगुणसम्पन्नवमाह

व्रतिक्रमश्रावणका लक्षण कहते हैं—

निरतिक्रमणमण्युतपञ्चकमपिशीलनसकचापि
धारयतेनिगत्या, योऽसौव्रतिना मनोव्रतिक ॥

व्रतानि यस्य नतीति व्रतिको मन । तेषाम् व्रतिना गण
धरदेशदानाम् । योऽसौ व्रतिना गण मिथ्यानेदानमाशरुपेभ्यो
निष्क्रान्तो निरशक्य सन्, योऽसौ धारयते । किं तत् निरतिक्रम-
णमण्युतपञ्चकमपि पचाप्यशुब्रतमनि निरतिचाराणि धारयते इत्यर्थः ।

अथवा दशान्विद्यतेऽस्येति दर्शनिक । “ योऽनेनाच ” ४।१।७
इति ४ ।

(३) गृह उपादाने वा “ पश्चात्सर्वैरिवाह्यापश्ये ब्रह्मः २।१।
११६ अनेन पश्यतीत्यर्थः । तत्र वासाऽऽगमनपरिधेयं यत्र
पथा मार्गः । तस्य (व्रित्तयस्य) गृह्य पश्य इति तस्यपथ-
गृह्य । ‘ गृह्य गृहे प्रथमेद्वाघे पाप्मापुरे त्रिदुः । इत्यासक्त-
मृगादीनां त्रिषु चाम्बीरिपदयसो इति मंत्रिणा कथनात् अत्र
पश्यतीति गृह्यगद् एतन्निश्चयः । भावाद्य—जिने ब्रह्मदेव सिद्धांत
शास्त्रधीरद्विगन्धर तपस्वी इत तीनोंको उपासकाध्ययनमें तत्पर
कहते हैं और नमःदशान्विद्यते शान्त चारित्रिको माग कहते हैं ।
तत्र च वीर पथाका (मागत्रितयकी) ही है पक्ष (तरफशरी) जिस-
को यह दर्शनिक ध्यापक है, इसीको दूसरा नाम पाश्चिमी (तरफ
मार्गकी-समोचान चारित्रिको है पक्ष प्रवृत्ति-तरफदानी लिखते ।

न केवलमेतदत्र धारयते अपि तु शीलमन्वक चापि, त्रिप्रकार
गुणत्रयचतु प्रकारशिक्षात्रयलक्षण शीलम् ॥ १२८ ॥

अन्वय—असौ व्रतिर्ना व्रतिकः, मते । असौ कः ? यः
निरशक्य सन् निरतिक्रमणमपि अणुव्रतपचकम् अपि च शील
सप्तक धारयते ॥

निरुक्ति—निगतम् अतिक्रमण यद्मात्तद् निरतिक्रमणम्
अणुव्रताना पचकम् अणुव्रतपचकम् । शीलाना सप्तक शीलसप्त-
कम् । शक्येभ्यो निर्गत म निरशक्य ।

वर्थ—इयं श्रावकस्य गणपदार्थान्ने त्रिक (दूमरा पद-
धारी) श्रावक माना है । जो शक्यगदित होता हुआ निरति
चार तो पांच अणुव्रतोको तथा सात शीलको धारण
करता है ॥१३८॥

अधुना सामायिकगुणसम्पन्नत्र श्रावकस्य प्ररूपयताह—
चतुर्थं श्रावकके आचरणीय आचार बताते हैं—

चतुरावर्त्तत्रितय

श्रतु प्रणाम स्थितो यथाजातः ।

१- कस्य सदागार सतो " १।४। ८० अनेन कर्तारि-
वारके ता (पत्नी) विभक्ती । २-व्रतानि विद्यतेऽस्येति व्रतिकः ।
"अतोऽजेकाद्य " ४।१।७६ इति मत्वर्थे ङ ।

३—"आ-मत्वर्थाद्यंशोल्यादिभ्य ज " २।२।१८२ अनेन
मनु भयकोषने घो वरामानकाले ज । असौ व्रतिभिर्व्रतिकोऽय-
बुध्यते इति वाक्यार्थः ।

सामयिको द्विनिपद्य

स्त्रियोगशुद्धस्त्रिसन्ध्यमभिवन्दी १३९

सामयिक समयेन प्राक्प्रतिनादितप्रकारेण चरतीति साम
 यिकगुणोपेत । किंनिशिष्ट १ चतुरावर्तत्रितय* चतुरो वारानावर्त
 त्रितय यस्य एतस्य हि कायोत्मगस्य विधाने 'सुमा धरदताणस्य
 योमामे रचाद्यतयो प्रत्येकमावर्तत्रितयमिति चत्वार आवर्ता ।
 तथा तदाद्यतयोरेव प्रणामकरणाच्चतु*प्रणाम । स्थित ऊर्जका-
 योत्सर्गोपत । यथाजातो ब्राह्मण्य तरपरिग्रहचि ताभ्यावृत्त ।
 द्विनिपद्यो द्वे निपद्ये उपवेशने यस्य देवदना कुवता हि प्रारमे
 समाप्तो चोपनिश्य प्रणाम कर्त य । त्रियोगशुद्ध त्रयो योगा मनो
 वाक्काय*शपारा शुद्धा सात्रय शपाररहिता य य । अभिव दी
 अभिवदत इत्येव शील । कथ १ त्रिसन्ध्यम् ॥१३९॥

अवयव - असौ सामयिक आवक* भवति । असौ कः
 यः चतुरावर्तत्रितय चतु प्रणाम स्थित, यथाजातः, द्विनिपद्यः,
 त्रियोगशुद्ध* पुन त्रिस यमभिवन्दी ।

निरुक्ति* — चत्वारश्च ते आवर्ता चतुरावर्ता । चतुरावर्ता-
 णाम् त्रितयो यस्य यस्मिन् वा स चतुरावर्तत्रितय । चत्वार*
 प्रणामा यस्य यस्मिन् वा स चतु*प्रणाम । द्वे निपद्ये यस्य स

१-समय - आत्मा प्राप्तो यस्य प्रतिकल्पेति सामयिक ।
 समयात्प्राप्तात् ॥३४॥२० इति टञ्ज

द्विनिषद्य । त्रिभि योने शुद्ध त्रियोगशुद्ध सम्यग ध्यायन् इति
सम्यग् ध्यान म सम् गु ध्यायति अस्या वा सत्त्वा ।

अथवा धोप्रभाचन्द्राचार्याचार इय त्रिस ध्यम्"
इति कथनात् प्रयाग्विशेषण प्रतिभाति तद् एव नियुज्यते ।
सम्-सम्यग ध्यायते चि त्यने ध्य चि तायामिति ड मध्यम्-
धर्म्यध्यानमित्यथ प्रयाणा सध्याना धर्म्यध्यानागाम् आक्षापाय-
विपाकाना समाहार इति त्रिस ध्यम् । पञ्चमगुणस्थाने धर्म्य-
ध्यानाति प्राणि एव । न तु स्वस्थानविषय, इति सिद्धागत-
कथनात् । ध्याप्रभाचन्द्रकथन "कथ त्रिस ध्यमिति ' वाक्ययाजना
धर्म्यध्यानत्रय यथाभवति तथा अभिर-दन-गोल स्यात् ॥१३६॥

अर्थ-उह सामायिकपदधारी ध्यायक होता है (उह
कौन ?) जो तीन तीन आंगोंका चार दफे करता है । चार
प्रणाम करता है । उड़ा हुआ, याद आभ्यतर चि तासे
रखाली यथावात है, वाग्ध्र जार मनासिम बैठ कर प्रणाम
करे है मन यचन जायक व्यापार शुद्ध है सावद्य राहत है
और रत्नत्रयम एरता करता है आर तीन काल समी
चीन - तीनों धर्म्य ध्यान हावे उस प्रकार वन्दना भक्ति
करता है ॥१३५॥

१-पडुल्लविशरणगत्ययस्मादनेषु इति धो । तिपीद-त्वस्या
मिति निषद्या "शोण्विनिपन्निपनिषद् मन् पुत्र स्वमज्ज " २।
३।२६ इति श्री क्यप् । मदीऽप्रते । १।४।४६। अनेन परवम् ।

विशेष - टाकार्या अ प्रभासन्तायाँ "कदा ? प्रसिध्यम्" इति
 घञात् न काञ्चाचक मध्या शब्द इति प्रतीयते । मयते
 चोत्कालाचक तर्हि "कदा प्रसिध्यम्" इति कथ्येत । इति रिद्ध
 द्विधिचारणायमिति ।

भाषाया - व दनाकरे कैमे करे ? प्रसिध्यम् तोर्ना ममा-
 च न ध्यात अथवा तानां मनोर्ना ध्यातोका ध्याता निमप्रकार
 हाये उत्सप्रकार वदना करे सो मामयिष श्रयक है । येना
 ससृष्टन टोकाशर आप्रभाय इ स्वामाका माय है ।

साम्प्रत प्रोपधानगुणत्रय श्रयस्य प्रतिपादयन्नाह-

चतुर्थं प्रोपधानगुण श्रयकरु श्राचार्य यताते हैं ।

पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि, मामे मामे स्वशक्ति मनिगुह्य
 प्रोपधनियमविधायी, प्रणिधिपर प्रोपधानशन ॥

प्रापचनानशनमुपगमो यस्यासा प्रोप गनशनः । किमनियमे
 नापि य प्रोपयावसासकारी सोऽपि प्रोपधानशनत्रयसम्पन्न इत्याह
 प्रोपधनियमविधायी प्रोपधस्य नियमोऽन्यथास्त्वं विदधानीत्ये-
 वशाल । क्व तन्नियमविधायी ? पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि द्वयोरचतुर्द-
 श्योर्द्वयश्चाट्म्योरिति । किं चातुर्मासस्यादा तद्विधायीत्याह-
 मासे मामे । किं कृत्वा ? स्वशक्तिमनिगुह्यतद्विधाने ध्यात्मसामर्थ्य
 मप्रठाय । किं विशिष्ट ? प्रणिधिपर एकाप्रतां गत शुभ-
 ध्यानरत इत्यथ ॥ १४० ॥

अन्वय. य मासे मासे चतुषु अपि पर्वादिनेषु स्वशक्तिम्
अनिगुह्य प्रणिमिपर सन् प्रोपधनियमप्रिधायी भवति स प्रोपधा
नशन श्रावक कथ्यते ॥

निरक्ति - पर्वणि दिनानि पर्वदिनानि अथवा पर्वणि च
तानि दिनानि पर्वदिनानि तेषु पर्वदिनेषु । स्वस्य शक्ति स्वशक्ति
ताम् । प्रोपधनेन प्रोपधे वा अनशन इति प्रोपधानशन ॥

अर्थ-जो प्रत्येक महीनेर्म चारों पर्वक दिनोम अपनी
शक्तिको न छिपा कर शुभ ध्यानम लीन होता हुआ
प्रोपधको अथवा प्रोपधक दिन उपवासको नियम पूरक
अवश्य करता है ना प्रोपधानशन पदका धरी श्रावक
॥ १४० ॥

१-निपुयक गुह्यत्र सधरणे धो पूर्वकाले क्त्वा धयवा-
देशः । न निगुह्य अनिगुह्य न तिरोधाय ।

२-निपूर्वाङ् धाम् धो गी भो कि २।३।७८ अनेन कि
स्य । 'नर्मद्वन्द्वपत्पद्भुमास्यति याति वाति द्राति प्साति घपौ
घहे शमु चित्र देत्र गी' पाठा।१२० इति ने णकारादेश ।
प्रणिधि - अवमान प्राधान वा तत्र पर लान । ३-प्रदृष्ट
ओपध प्रोपत्र "तद्यै डि पर" ७।३।३ इति अकार जोकारयो
स्थाने पर ओकारादेश । तस्य नियम विदधातीत्येव शील ।
"शीलेऽजाती णिन्" २।२।७८ इति णिन् । प्रोपध मठद्वमुकि
कथनात् १०।८

इदानीं श्रावकस्य सचित्तविरतिस्वरूपं प्रकृत्यताह—

सचित्तविरत पञ्चम भावकक प्रतविधानं कथ्यते ह—

मूलफलशाकशाखा करीरकन्दप्रसूनबीजानि ।
नामानि योऽस्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्ति ॥

सोऽयं श्रावक सचित्तविरनिगुणसम्पन्नो न यो नास्ति न भक्षयति ।
कानीत्याह मूलेत्यादि मूलं च फलं च शाकश्च शाखाश्च कोपला-
करीराश्च वशाकिरला कदारश्च प्रसूनानि च पुष्पाणि बीजानि च
ताम्येतानि आमानि भक्षयन्तानि यो नास्ति । कथंभूतं सन् दया
मूर्तिः दयास्वरूपः सकरुणचित्त इत्ययं ॥ १४१ ॥

अन्वय — य आमानि मूलफलशाकशाखाकरीरकन्दप्रसून
बीजानि न भक्षति सोऽयं दयामूर्ति सचित्तविरत श्रावको भवति ॥

निश्चिन्ता—मूलं च फलं च शाखाश्च शाकं च करीरक-
कदारश्च प्रसूनं च बीजं च इति मूलफलशाकशाखाकरीरक-
प्रसूनबीजानि । सचित्तेभ्यो विरत सचित्तविरतः । दया एव मूर्ति
यस्यासीत् दयामूर्ति ॥

अर्थ—जो कन्चे मूल फल शाक शाखा करीर (कोपल)
कन्द प्रसून पुष्प और बीजोंको नहीं खाता है वह दयामूर्ति
सचित्तविरत पद वाला श्रावक होता है ॥१४१॥

अर्थात्—वनस्पति और जल ये दो ही वस्तु सदाचारी
पुरुषोंके भक्ष्य हैं । वनस्पतिके अंग आठ होते हैं, मूल १

कद २ शाखा ३ करीर (कोपल) ४ शाक (पत्ते) ५ पुष्प
६ फल ७ योज ८ । इनमेंसे किसीके तीन-चार पाच ही
(आदि) अग होते हैं, इन वनस्पतिके किसी भी अगको ओ
कच्चा हो पका न हो उसे नहीं खावे है तथा सचित्त जल
और लयणका भी नहीं खावे है इनको अग्नि आदिसे
पका कर कूटकर पीसकर या उसमें तीक्ष्ण क्षार आदि
मिलाकर खाता है ।

अधुना रात्रिभुक्तिविरतिगुण श्रानकरस्य व्याचक्षाण प्राह—

६ । रात्रिभुक्तिविरत श्रानकरके आचारणीय व्रत कहते हैं—
अन्न पान खाद्य, लेह्य नाश्राति यो विभावर्याम्
स च रात्रिभुक्तिविरत , सत्त्वेष्वनुकम्पमानमना

स च श्रानको रात्रिभुक्तिविरतोऽभिधायते यो विभावर्या रात्रौ
नाश्राति न भुक्ते । किं तदित्याह—अन्नमित्यादि, अन्न भक्तमुद्
गादि, पान द्राक्षादि पानक, खाद्य मोदकादि, लेह्य द्रवद्रव्य र-
व्यादि । किंनिशिष्टं ? अनुकम्पमानमना सकरुणहृदयः । केपु ?
सत्त्वेषु प्राणेषु ॥ १४२ ॥

अन्यथ य सत्त्वेषु अनुकम्पमानमना सन्न विभावर्याम् अन्न

(१) अनुपूर्वक कपिल,
ज्ञानः त्वः । "अने मुक्" ५।१।१

२।१।१३

(२) भद्र भरणे धोः का

।१।० इति

पान खाद्य लेह्य न अश्नति स च रात्रिभुक्तिविरतः श्रावकः भवति ॥

निरुक्तिः- रात्रौ भुक्तिः रात्रिभुक्तिः, रात्रिभुक्तेः। वरत इति रात्रिभुक्तिविरत, अनुकम्पमानम् मनो यस्य स अनुकम्पमानमनाः ॥

अर्थ-जो जीवोंपर दयायुक्त मनवाला होता हुआ रात्रिम अन्न पेय खाद्य लेह्य पदार्थोंमें नहीं खाता वही रात्रिभुक्तिविरत पदवाला श्रावक है ॥१४२॥

साम्प्रतमन्नमविरतवगुण श्रावकस्य दर्शयन्नाह-

अन्न अन्नहमविरति नामक मन्त्रम श्रावकै चरित्र वताते हैं ।

मलबीज मलयोनिं, गलन्मल पूतिगन्धि बीभत्सम्
पश्यन्नङ्गमनङ्गा द्विरमति यो ब्रह्मचारी स ॥

अनगात् कामाद्यो विरमति व्यावर्तत म ब्रह्मचारी । किं कुर्वन् ? परयन् । किं तत् ? अन्न शरीरं । कः भूतमिच्छाह-मलेत्यादि मल शुकरोहित बीज कारण यस्य । मलयोनिं मलस्य मलिनताया अ पत्रित्वस्य योनि कारण । गलन्मल गलन् स्रयन् मलो मूत्रपुरीष-स्वेदादिलक्षणो यस्मात् । पूतिगन्धि दुर्गन्धोपेत । बीभत्स सर्पाव येषु पश्यता बीभत्सभावोत्पादकम् ॥१४३॥

अथय -यः कामाङ्गम् मलबीजम्, मलयोनिम्, गलन्मलम्,

(१) अन्न भोजने सति काले लट् । तिश्च 'क्यादे श्ना'

२।१।६५ इति श्ना । न अश्नति - न अस्ति - लट् भुङ्क्ते ।

समक्ष कर कापस (मधुनसे) विरक्त हा जाता है, यह
ब्रह्मचारी थापक है ॥१४३॥

इदानीमारम्भविनिवृत्तिगुण थापकस्य प्रतिपादयन्नाह—

आरम्भत्यागी थापकके आचरण कहते हैं—

सेवाकृपिवाण्यज्य प्रमुग्धादारम्भतो व्युपारमति ।
प्राणानिपातहेतो योऽसावारम्भविनिवृत्तः ।१४४।

यो व्युपारमति विशेषेण उपरत व्यापारेभ्य आसमत्तात्
जायते असावारम्भविनिवृत्तो भवति । कस्मात् ? प्रारम्भत ।
कथंभूतात् ? सेवाकृपिवाण्यज्यप्रमुग्धात्, सेवाकृपिवाण्यज्या प्रमुग्धा
आद्या यस्य तस्मात् । कथंभूतात् ? प्राणानिपातहेतो प्राणाना
मतिपातो नियोजन तस्य हेतो कारणमतात् । अनेन स्नदनदान
पूजाविधानाद्यारभानुपरतिर्निराकृता । तस्या प्राणानिपातहेतुत्वाभा-
वात् प्राणेषुपाटापरिहारेणैव त समयात् । वाणि-शाचारम्भादपि तथा
सभवस्तद्वि विनिवृत्तिर्न स्यादित्यपि नानिष्ट प्राणिपीडाहेतोरेव
तदारम्भात् निवृत्तस्य थापकस्यारम्भविनिवृत्त गुणमपतनो
पपत्ते ॥ १४४ ॥

अन्यथ -य प्राणानिपातहेतो सेवाकृपिवाण्यज्यप्रमुग्धात्

१—प्राणिति जीवति वाभ रिति प्राणा , प्रपूर्वक अन प्राणने
द्यो अच घञ या । २—वणिजा कञ वाणिच्यम् 'सेवनादि-
भ्रष्टरञ्' धाग ८ इति ट्यण ।

आरम्भतो व्युपरिमति अमौ आरम्भनिवृत्त श्रावक कथ्यते ॥

निरुक्ति-सेवा च कृषिश्च वाणिज्य चेति सेवाकृषिवाणिज्यानि प्रमुखा आद्या यस्य तत् सेवाकृषिवाणिज्य प्रमुखम्, तस्मात् । प्राणानाम् अतिपात इति प्राणानि पात तस्य हेतु इति प्राणनिपातहेतु* तस्मात् । आरम्भेभ्य निवृत्त इति आरम्भनिवृत्त ॥

अर्थ-नो हिंसाके सावक हिंसाके कारणभूत ऐत्र सेवाकर्म कृषिकर्म जीर वाणिज्यकर्म हैं मुख्य जिनम ऐसे छहों प्रकारके व्यापारोंका त्याग कर दे वह आरम्भविरति पदका धारक श्रावक कहा जाता है ॥१४४॥

अधुना परिग्रहनिवृत्तगुण श्रावकस्य प्ररूपयत्नात्-

परिग्रह याग श्रावकक आचर ग वताते है-

वाह्येषु दशसु वस्तुषु, ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वव्रतं स्वस्थ. सन्तोषपर, परिचित्तपरिग्रहाद्विरत ॥

१-रमुट धा 'उपात्' (१७१६ इति मन्त्र (पररमैपदम्) ।

२-निपृथक् वृत्त वचन वा च ।

१-मि १ मसि २ कृषि ३ सेवा ४ शिष्य ५ जीर वाणिज्य ६ इतक तथा इनक भेद प्रमेदरूप व्याज शेषरहोल्डर मशानफिराया आदिसे द्रव्यका उपाजन करना, दद्याना अथात्

श्रावक मूत्र पूजाका (सचित द्रव्यका) रूढा करता है

उभा उपायसे

परिसमतात् चित्तस्य परिग्रहो हि परिचित्तपरिग्रहस्तस्मा-
द्विरत आशङ्को भवति । किञ्चिद्विशिष्टं सन् स्वस्थो मायादिरहित ।
तथा स तोषपर परिग्रहार्थाक्षायावृत्त्या सत्तुष्ट । तथा निमग्नतरत ।
किं वृत्तात् उत्सृज्य परित्यज्य । किं तत् ममत्व मूढ । क्व वा
तेषु दशसु वस्तुषु । एतदेव दशधा परिगणनं बाह्यवस्तुनां दर्यते ।

क्षेत्र वास्तु धन धान्य द्विष च चतुष्पदम् ।

शयनासन च यान कुप्य भाण्डमिति दश ॥

क्षेत्र सम्याधिकरणं वडालिनादि (डोहलिकादि) वास्तु
गृहादि । धन सुवर्णादि । धान्य व्रीणादि । द्विषद दासीदासादि ।
चतुष्पद गरादि । शयन गद्दादि । आसन मिथरादि । यान
टोत्रिकादि । कुप्य क्षामनापासनाशेषरादि । भाण्ड श्रीखण्ड
मणिष्टायास्थताम्रादि ॥ १४५ ॥

अन्वयः—यं नोहेषु दशसु वस्तुषु ममत्वम् उत्सृज्य निर्मम
त्वरत सन् स्वस्थ च सतोषपर भवति स परिचित्तपरिग्रहाद्
विरत आशङ्को भवति ॥

निरुक्तिः मम इत्यस्य भावो ममत्वम् । निगत ममत्वम् यस्मात्

१—भाण्डशब्दोऽत्र मूलवणिग्धनवाचकोऽपि प्रतीयते ।
भाण्ड मूलवणिग्विषे तुरङ्गाणां च मण्डने, नदीमूलद्वयोमध्ये
मूरणे भाजनेऽपि च (इति हेम) स्यात्भाण्डमशवाभरणेऽप्येव
वणिग्धने, इत्यमरः । भाण्ड पात्रे वाण्यमूरणे भूपाश्रमप्यारिति
मेदिना । २—वदिभायां वाह्यानि । ३—चिती सज्ञाने इति धो "त "

तत् निर्ममत्वम् । निर्ममत्वं रत्न निर्ममत्वं रत्न । स्वस्मिन् निष्ठति इति
स्वस्थ । सतोपे पर तत्पर इति सतोपपर । परिचित्त च परिग्रह
इति परिचित्तपरिग्रह सम्मात् ॥

जय नां नाद्य दश प्रकारके परिग्रहोंम ममताको
डोढ निर्ममताम रत्न होना हुआ नात्माय लीन और सतोप
म तत्पर है, सी परिचित्तपरिग्रहविरत आरक है ॥ ४५ ॥

साम्प्रतमनुमतिविरतिगुण आशयस्य प्रपद्यताह —

अनुमति विरतः क्व प्रवृत्तौ चणन करते हैं—

अनुमतिरारम्भे वा, परिग्रहे वैदिकेषु कर्मसु वा ।
नास्ति सल्लु यस्य ममधी रनुमतिविरतः समन्तव्यः ।

सोऽनुमतिरिति नो म तत्पर यत् । मनु स्तुट नाम्नि ।
काऽमा ' अनुमतिरभ्युपगम । कर् ' अरभ कृ शब्दा । वा शब्द
सत्र परस्परसमुच्चय । परिग्रहे वा धा यदासीदामादौ । ऐहिकेषु
कर्मसु वा विवाहादिषु । किञ्चिच्छिष्ट ' समधी रामादिरहितबुद्धि
ममत्तरहितबुद्धिर्वा ॥ १४६ ॥

अन्यथ -- यस्य सल्लु आरम्भ अनुमति नास्ति वा यस्य सल्लु

शां१०० इति त पुन डोष्यशब्दितोऽपरस्ते । १११२६
अनेन नेट चिदा मा इत्यग । त्रिदा परि-भूत (स्थित)
परिवित्तन् पदापाशदिर-त्तु १०११० इति दस्य । चित्तम्य
मनोगत परिग्रहे सुखा तथा विरत स्वत विरत ।

१- अनुप्राय मनुष्योपेय धो ति । ' द म पम्पुत्तम्-

परिग्रहे अनुमति नास्ति वा यस्य रज्जु एहिनेषु कर्मसु अनुमति नास्ति स अनुमतिविरत मत्तय, वधभूत स समधो ॥

निरुक्ति - इह (लोके) भवा ऐहिका तेषु ऐहिकेषु । समा धो बुद्धि यस्य स समधो । अनुमत्या विरत इति अनुमति विरत ॥

अर्थ-जिसकी कृप आदि पद कर्मोंमें अनुमति (अनुना) नहीं है, जिसकी परिग्रह बदानेमें अनुमति नहीं है, जिसकी ऐहलौकिक विवाह आन्मि-पचसूना दिनाम अनुमति (स्वीकृति) नहीं है, सो अनुमतिविरत श्रावक है । कैसा है वह श्रावक ? राग द्वेष रहित है बुद्धि (कृति प्रादा) जिसकी ॥१४६॥

इदानीमुद्दिष्टविरतिलक्षणगुणयुक्तत्वं श्रावकस्य दर्शय नाह-

अत्र उद्दिष्टविरतनामक ग्यारम श्रावक पदका कर्तव्य वताते हैं ।

गम्वनतितनादेर्दे घ ऋलि ' ४ ४३८ इति नखम् । अनुमति अनुष्ठा स्वीकृतिरित्यर्था २ अस्मिन्निति इह । ' इदमोह ' ४१११८ अनेन हत्त्य । हलि यम् । १११२७ अनेन इद म्म इह (अस्मिन्) लोके भवा ऐहिका इह लोकाय हितानि ऋल्लोके प्राप्तानि वा ऐहिकानि । तेषु ।

न तु पारलौकिकेषु कियते तानि कर्माणि, पापादीनि वा । नृत्य ।

गृहतो मुनिवनमित्रा, गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य
भैक्षपाशनस्तपस्य न्नुत्कृष्टशैलखण्डधरः ॥४७॥

उत्कृष्ट उद्दिष्टविरहितक्षणकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको
भवति । षपभूतः २ चेलखण्डधर कोपीनमश्रयखण्डधरक आर्ष
लिगधारीत्यथ, तथा भैक्षपाशनो भिक्षाणां समूहो भैक्ष्य तद्वरना
तीति भैक्षपाशन, किं पुत्रन् २ तस्वन् तप युवत् । किं कृत्वा
परिगृह्य गृहीत्या । यानि २ व्रतानि । क्व २ गुरूपकण्ठे गुरु
समीप । किं कृत्वा २ इत्या गत्वा । किं तत् २ मुनिवन मुयाश्रम
कस्मात् २ गृहत् ॥ ४७॥

अत्रय - श्रावक गृहतो मुनिवनम् इत्या गुरूपकण्ठे व्रतानि
परिगृह्य तपस्वन् स उत्कृष्ट श्रावक, भवति षपभूत श्रावकः २
भैक्षपाशन, पुन चेलखण्डधर ॥

निरुक्ति - मुनीनां वनम् आश्रमम् इति मुनिवनम्, गुरूपकण्ठम्
उपकण्ठ इति गुरूपकण्ठे तस्मिन् । भिक्षाणाम् समूहो भैक्ष्यम् म
एव पाशन यस्य स भैक्षपाशन । चेलस्य खण्डधरतीति चेलखण्डधर

अथ — जो अपने घरको छोड़कर मुनि आश्रमम जा
कर गुरुके समीप व्रतोंको धारण कर तप करता है वह उत्कृष्ट
श्रावक है । कैसा है वह श्रावक ? भिक्षा ही है भोजन
जिसका तथापिना सिला हुआ खण्ड धरनेको पहनता है ॥ ४७

तपः पुत्रन्तपे यो त्यागमहः सनेत्र मयते तदा भयो ज्ञाता
भवतीत्याह,—

जी तपस्वी-उद्विग्निरिति उत्कृष्ट अणुप्रती आगमको
जानता हुआ ही एमी मान्यता—निश्चय कर लेता है तब
ही वह उत्कृष्ट सुखका ज्ञाता (भोक्ता) होगा एसा बताते हैं ।
पापमगतिर्भ्रमो, वन्धुजीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समय यदि जानीते, श्रेयो ज्ञाता ध्रुवं भवति*१४८

यदि समयम् आगम जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा
ध्रुव निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति । किं युत्वं*
निश्चि वन् । कथमित्याह पापमित्यादि—पापमधर्मोऽराति शत्रु
जीवस्थानैकान्तरवत्त्वात् धर्मश्च वन्धुजीवस्थाने शोषकारकत्वादित्येव
निश्चि वन् ।

अत्राय—जीवस्य अराति पापम् जीवस्य वन्धु धर्म* इति
निश्चि वन् मन् यदि समय जानीते तदा स ध्रुवम् श्रेयो ज्ञाता
भवति ॥

अर्थ—जीवका शत्रु पाप रुमे ही है अ व कोई भी नहा

* समय यदि जानात, श्रेयो ज्ञाता ध्रुव भवति । ऐसा
पाठ ठोस ज्ञान होता है अथ मो गमार् है परञ्च सस्वृत टोकामें
जानीते आगमज्ञो यदि भवति ऐसा पाठ है मो विचारणीय है ।

सम्मानता अर्थ होनेपर 'यदि' अज्ययका प्रयोग होवे तो
लिट् होता है "जातुपदुपदायदी लिट्" २। ३।३८ ऐसा जेनेट्र
व्याकरण सूत्रके नियमसे ।

गृहतो मुनिवनमित्रा, गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य
भेदयाशनस्तपस्य न्नुत्कृष्टश्रेलखण्डधर. ॥१४७॥

उत्कृष्ट उद्विष्टविरतिउक्षणैकादशगुणस्थानयुक्तः श्रावको
भवति । कथंभूत ? चेलखण्डधर कोपीनमात्रमखखण्डधरक आर्य
लिंगशरीत्यथ , तथा भेदयाशनो भिक्षाणा समूहो भेदय तद्वरना
तीति भेदयाशन । किं कुर्वन् ? तपस्यन् तप कुर्वन् । किं कृत्या
परिगृह्य गृहीत्या । कानि ? व्रतानि । क्व ? गुरूपकण्ठे गुर
मनीषे । किं कृत्या ? इत्या गत्या । किं तत् ? मुनिवन मु याश्रम
कस्मात् ? गृहत ॥१४७॥

अवय - श्रावक गृहतो मुनिवनम् इत्या गुरूपकण्ठे व्रतानि
परिगृह्य तपस्यन् स उत्कृष्ट श्रावक भवति कथंभूत श्रावक ?
भेदयाशन , पुन चेलखण्डधर ॥

निरक्ति*—मुनीना वनम् आश्रमम् इति मुनिवनम्, गुरूपकण्ठम्
उपकण्ठ इति गुरूपकण्ठ तस्मिन् । भिक्षाणाम् समूहो भेदयम् ए
एव प्रशन यस्य स भेदयाशन । चेलस्य खण्ड धरतीति चेलखण्डधर

अर्थ—जो अपने घरको छोड़कर मुनि आश्रमम जा
कर गुरुके समीप व्रतोंको धारण कर तप करता है वह उत्कृष्ट
श्रावक है । कैसा है वह श्रावक ? भिक्षा ही है भोजन
जिसका तथापिना इसला हुआ खण्ड वस्त्रको पहनता है ॥ १४७

तप कुर्वन्पि यो ह्यागमज्ञः सनेन मयते तदा श्रेयो ज्ञाता
भवतीत्याह,—

जो तपस्वी—उद्दिष्टिरिति उत्कृष्ट अणुप्रती आगमको
जानता हुआ ही एमी मान्यता—निश्चय कर लेता है तब
ही वह उत्कृष्ट सुख का ज्ञाता (भोक्ता) होगा ऐसा बताते हैं ।
पापमर्गतिर्मो, वन्धुर्जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समय यदि जानीते, श्रेयो ज्ञाता ध्रुव भवति*१४८

यदि समयम् आगम जानीते आगमज्ञो यदि भवति तदा
वुर निश्चयेन श्रेयो ज्ञाता उत्कृष्टज्ञाता स भवति । किं कुर्यन् ?
निश्चि वन् । कथमित्याह पापमित्यादि—पापमर्गोऽराति शत्रु
जीवस्थानेकापकारवत्वात् धर्मश्च वन्धुर्जीवस्थानेऽपकारकत्वादित्येव
निश्चि वन् ।

अत्रय - जीवस्य अराति पापम् जीवस्य व ध्रु धर्म इति
निश्चि वन् सन् यदि समय जानीते तदा स ध्रुवम् श्रेयो ज्ञाता
भवति ॥

अर्थ—जीवका शत्रु पाप कम ही है अन्य कोई भी नहा

* समय यदि जानीत, श्रेयो ज्ञाता ध्रुव भविता । ऐसा
पाठ ठीक ज्ञात होता है अर्थात् भी गमौर है परञ्च सस्मृत टोकामे
जानीते आगमज्ञो यदि भवति ऐसा पाठ ही मो विचारणीय है ।

सम्मायना अथा होनेपर “यदि” अन्वयका प्रयोग होवे तो
लिङ् होता है ‘जातुयद्यदापरी लिङ्’ २। ३। ३८ ऐसा जैनेत्र
ध्याकरण सूत्रके नियमसे ।

है तथा जीवका मित्र रत्नत्रयधर्म ही है दूसरा कोई नहीं है
 एसा निर्णय करता हुआ जब आचरणोका प्राग्भाव (उत्प-
 न्न) करता (कर लेता) है तब वह श्रावक अवश्यमेव
 अत्यन्त प्रशसनीय कल्याणोंको उत्पन्न करता (कर लेता)
 है अथात् सम्यग्दर्शन पूर्वक अणुत्रत गुणत्रत शिक्षाव्रत और
 सन्लेखना त्रतको आचरण करता है वह अवश्यमेव स्वल्प
 भोगोंमें ही क्षायिक अनन्त सुखोंको भोगता है ।

अथवा—उत्तम श्रावक तपस्वी होता हुआ आगम-
 समय भेदज्ञानको ओर उनके उपायोंको बतानेवाले
 शास्त्रोंको जान लेता है और यह भी निश्चय निर्णय कर
 लेता है कि “जीवक शत्रु पाप है—पापाश्रय है और पापो-
 दय ही है तथा जीवका उपकारी मगोत्र भ्राताक समान
 धर्म ही, है तब ही वह प्रशसनीय निश्चल स्वरूपका धाता
 अवश्य हो जाता है । उत्कृष्ट उद्विग्न त्यागी वागप्रस्थ आश्रममें
 है वह तपस्वी भी है किंतु स्वभावों विभावोंको तथा आत्मा
 को नहीं जानता है तो वह कल्याणोंका धाता भोक्ता नहीं
 होता । अतएव धानप्रस्थोंको कपायादि विभावोंको बताने
 वाले गोमट्टमार धरल जयधरल जैसे ग्रंथोंको तथा स्वभाव
 पर्यायोंका निर्णय करानेवाले आमारयति समयमार
 जैसे आगमोंको जीव और आत्माक स्वरूपको बतानेवाले
 मोक्षशास्त्र सर्वाधसिद्धि राजवार्तिक श्लोकरवार्तिक लघीय-
 स्त्री सर्वज्ञसिद्धि जैसे ग्रंथोंका तथा कपायादि विभावों-

से भिन्न करनेवाले उपायोंको बतानेवाले रत्नरत्नष्टया
 वकाचार मूलाचार अपराजिता भगवती आराधनामार
 आँ इन सबके आदर्श उदाहरण बतानेवाले महापुराण
 (आग्निपुराण उत्तरपुराण) आदि इन दिगम्बर जैन ऋषि
 प्रणीत—गार्व आगमोंका अध्यापन (गायना) प्रच्छन्ना
 अनुप्रक्षा आम्नाय और धर्मोपदेशोंसे कर्मायोंको घटाकर
 समाधि राग द्वेषम शून्य भावोंका साधक नर यही रत्न
 त्रय धर्म है समाज पर्यायोंसे निकाल कर उत्तम सुखमें प्रारण
 करता है ओर दही प्रियार श्रेयो माग है ।

यह समस्त ग्यारह प्रकारके अणुप्रतियोंको तथा मुख्य-
 तासे ग्यारहमी प्रतिमावाले ज्ञानप्रस्थोंको बताया है ।

इदानीं गालशानुगतु फल दशयन्नाह,—

इस शास्त्र में बताये हुवे साधनोंका जो आचरण
 करता है उसका क्या फल होता है ? सो बताते ह—

येन स्वयं वीतकल्ङ्कविद्या

दृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावम् ।

नीतस्तमायाति पतीच्छयेव,

सर्वार्थसिद्धिसिन्धु विण्टपेषु ॥ १४९ ॥

प्रापित । कमित्याह वीतेत्यादि, विशेष इतो गतो नष्ट कलको दोषो
यासा ताश्च ता विघाट्टष्टिक्रियाश्च ज्ञानदशनपरित्राणि तासा फर-
एटभात्र त भव्यम् आयाति आगच्छति । कासौ ? सपरार्थसिद्धि
धमार्थनाममोक्षलक्षणार्थाना सिद्धिर्निष्पत्ति कर्ता । कयेनायाति ?
पती-उभेव स्वयम्परविधानेच्छयेन । वर ? त्रिषु विष्टपषु त्रिभुवनेषु ॥

अन्यथ येन श्रामकेन स्वयं वीरैकलकरविघाट्टष्टिक्रिय
रत्नकरणदभात्र नीत तम् सपरार्थसिद्धि त्रिषु विष्टपषु पती छुभो इव
भार्याति ॥

१-जो स्वयम् दूसरेका प्रेरणाके विना वर प्राहक (इच्छुका)
होवे उस विधानको स्वयम्पर विधान कहते हैं । अर्थात् जो
भव्य मुक्ति-प्राके साथ अनन्त अग्निशर परम सुखमय अद्वैत
होना चाहते हैं प्रयत्न कर रहे हैं उनको ही सपरार्थसिद्धि
विग्राहित हो जाती है । अन्योके साथ नहो ।

२-स्वयमिति भिससन्नकपदम्-आत्मा ।

३-विशेषेण इत गत इति वीत । वि+इण गती क्त ।
अथवा वीत क्षिप्त । अथ क्षेपणे च क्त । वी आदेशश्च ।

४-णिञ्ज प्रापणे क्त । 'धिगम्यर्थं वहन्नीहो ऋषिजिदण्डे
कमणि लादि" २।४।७६ । अनेन मुख्यकमणि क्त ।

५-पति विधातुमिच्छया हेतुना आयाति । अत्र "हेती"
१।३।३६ अनेन भा विभक्तौ । इय इच्छाया घो "मृगपेच्छाऽट-
ट्या" २।३।२०३ इति श त्प । ऐषणम् इच्छा वाऽच्छा । पति
प्राप्तु वाऽच्छया, पति समवेतुमुद्देशेन वेत्पथ ।

६-आङ् पूर्वक या प्रापणे घो ऋत् तिप् । "ह्यादेरुणु"
इति शप् उप् । आगच्छतीत्यथ ।

निरुक्ति—विद्या च दृष्टिश्च क्रिया च इति विद्यादृष्टिक्रिया
वीना कलकैम्प ता वीनकलरा । वीनकलकाश्च या० विद्यादृष्टि
क्रिया० ता वीनकलरविद्यादृष्टिक्रिया, वीनकलरविद्यादृष्टिक्रिया एव
रत्नानि इति वीनकलरविद्यादृष्टिक्रियारत्नानि । तेषाम् वरखडमिर
करण्डम् इति वीनकलरविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डम् तस्य भाव
तया तम् वीनकलरविद्यादृष्टिक्रियारत्नकरण्डभावात् । पत्यु इच्छा
पतीच्छा तथा पतीच्छया । सर्वे च ते श्रिया सर्वार्था सर्वार्थिनाम्
सिद्धिरिति सर्वार्थमिद्धि । मोक्षपुरुषायसिद्धिरित्यर्थ ।

अथ—जिम श्रावकने अपनेको ज्ञान दर्शनचारित्र
रूपी रत्नोंका पिटाग बनाया है उसको मयार्थमिद्धि
सम्पूर्ण अर्थों की मिद्धि तीन लोकमें सर्वत्र पतिके ममान
इष्ट मानती हुई प्राप्त होती है ॥१४९॥

रत्नकरण्डक कुर्वतश्च मम यासी सम्भवसम्पत्तिर्वृद्धि गता
स एतदेव कुर्यादित्याह,—

श्रीसमन्तमद्रस्वामी अपनी प्रिय भारता “कि इम
रत्नकरण्ड श्रावकाचारणे बनात हुवे सम्भवस्वरूप सम्पत्ति
मेरे नदी है चउ इतना काम करे ऐमा” स्वय दशाते है ।

सुखयतु सुखभूमि कामिनं कामिनीव,

सुतमिव जननी मा शुद्धगीला भुनक्तु ।

कुलमिव गुणभूषा कन्यका सपुनाता

ज्जिनपतिपदपद्म प्रेक्षिणी त त्तिज्जश्री ॥

मा सुखयतु सुप्तिन करोतु । कामौ २ दृष्टिलक्ष्मी सम्यग्दर्शन
सम्पत्ति । किंविशिष्टेष्वट् जिनेत्यादि, जिनाता देशन कर्मो मूल
काना गण परदेवादीना पतयस्तार्थं प्ररास्तेषा पदानि सुप्तमिड
न्तानि पदा वा ता येन पद्मानि तानि प्रेक्षने श्रद्धभातीत्येव शोला ।
अयमर्थ - लक्ष्मी पद्मानलोऽनशीला भवति दृष्टिलक्ष्मीस्तु तिनो
क्तपदपदार्थप्रक्षणशीलेति । क मभूता सा २ सुखभूमि । सुप्तोपत्ति-
स्थान । क केन २ कामिन कामिनीव यथा कामिनी कामभूमि
कामिन सुखयति तथा मा दृष्टिलक्ष्मी सुप्तयतु । तथा सा मा
मुनक्तु रक्षतु । तेन २ सुतमित्र जननी । किंविशिष्टा २ शुद्धशोला
जननी हि शुद्धशीला सुत रक्षति नाशुद्धशीला दूश्चारिणी । दृष्टि
लक्ष्मीस्तु गुणत्रयशिद्धान्तलक्षणा शुद्धसप्तशोऽममयिता मा
मुनक्तु । तथा सा मा सम्पुनीनात् मङ्गलदोषाङ्गलात् निराङ्गल्य
पत्रियतु । मित्र २ कुलमित्र गुणभूया कयत्रा । अयमर्थ कुल
यथा गुणभूया गुणाऽलङ्कारोपना क या पत्रियति श्लाघ्यता
नयति तथा दृष्टिलक्ष्मीरपि गुणभूया षष्टमूनगुणैरलङ्कना मा
सम्यक्पु नीतादिति ॥ १५० ॥

येनाज्ञानतमो निरस्य निगिल भव्यात्मचेतो गतम्
सम्यग्ज्ञानमहाशुभि द्रक्वटित मागारमागोऽखिल ।
स श्रीरत्नकरण्डकामलरपि ससृत्समिच्छोपरो
जीयादप समन्तभद्रमुनिप श्रीमान् प्रभेर्त्तनन ॥ १ ॥

इति प्रभाचन्द्रविरचिताया समन्तभद्रावामि-
विरचितायामकाध्ययनटीकाया
सप्तम परिच्छेद ।

अत्रय दृष्टिलक्ष्मी माम् सुखपतु । का कमिव २ कामिनी
कामिनम् २२ । किम्भूता दृष्टिलक्ष्मी २ किम्भूता च कामिना २
सुखभूमि । दृष्टिलक्ष्मी माम् मुनेकनु । का कामिव २ जननी सुख
मिव । कथभूता जननी वा दृष्टिलक्ष्मी २ शुद्धशीला । दृष्टिलक्ष्मी
मा सपुनातात् । का किमेव २ कथका कुर्नेभिर । कीदृशी दृष्टि
लक्ष्मी वा कथका २ गुणभूया । पुन कीदृशी च दृष्टिलक्ष्मी २
जिनपतिपदपद्मप्रेक्षिणी ।

निरक्ति - सुखत्व भूमि सुखभूमि सुखरचासा भूमि २ ।
शुद्ध शीलभू यस्या मा शुद्धशीला । गूणै भूयते या सा गुणभूया,
अथवा गुणा एव भूया यस्या सा गुणभूया । जिनाना पति जिनपति
जिनपते पदे चरणा निनपतिपदा, जिनपतिपदा इव पदमौ इति

१-सुख करतु इति सुखपतु-मृशध्वये णिज बहुलम् ।
२।१।२८ धनेन करोत्यर्थे णिज ।

२-भुक्तो रक्षाऽनयोरिति रक्षादे घो "लोट्" २।३।५३
धनेन प्रार्थनाथे लोट् 'भुक्तोऽन्वे "१।२।७३ अस्मिन् मूर्ते 'अन्वे"
इति अपाल् १०३० एव द भवति पाल् १ तु मम् भुनक्तु प्रायताम्
पात्पतु इत्यथा ।

३-सम्पत् १।१ पुत्र पत्ने घो "कयाद् श्वा" २।१।८ श्वा

के प्रत्येक पद प्रयोजनीभूत और अपनी अपनी वृत्तियोंके बताने-
वाले हैं । यदि एक भी वाक्य या पद निराल दिया जाये तो
उधमें व्यर्थता आ जावेगी । क्योंकि ये कारिका सूत्ररूपके हैं ।

सुत्रका लक्षण श्रोजयधवल्लभ इसप्रकार है कि जिसमें
अंतर तो स्पष्ट हों और अर्थां गभार हो निरुद्देश्य सार
(सत्य) को बतानाया गूढ अथावा निणाय निम्नमे होता हो,
अयसि आदि तथा ध्याकरण छद्म और साहित्यके सिद्ध
जो दोष हैं उनसे रहित हो जितना कथन हो वह हेतुपूर्व
प्रयोजनीभूत हो जिसमें काइ भी बात अहितकारी और भ्रूटा न
हो उन गद्य या पद्य वाक्योंको बुद्धिमान् नाशाय सूत्र कहते हैं ।

सो यह लक्षणभाव इसकी प्रत्येक कारिकाओंमें धिय-
मान है । अतएव समस्त श्रावकाशरोंमें या उनके टीकाशोंमें
इसकी कारिकाओंको उद्धृत कर सिद्धवाचार्यों ने साक्षीमें श्री है ।
उनका हृदयगम सगति इसप्रकार है ।

प्रथम कारिकामें श्री १००८ वधामान नाग कर अर्द्धतदेवको
नमस्कार कर श्री समतभद्र श्यामीने अपना वृत्तज्ञता बताइ है ।
उनके जो विशेषण बताये हैं उनमें उका बताइ है अतविद्या
हमारे लिये हितकारी है क्योंकि उसी उपामकाध्ययन विद्यामें
यह प्रथम रचा है ।

* अन्पाक्षरमसद्विध सार

निर्दोष

२—चितने प्राणा हैं वे सब सुखको निरंतर चाहते हैं कि हमारा सुख हममें निरंतर रहे। उसी न्यायानुसृत सुखम जो स्थापित करता है वह धर्म है उसी धर्मका हममें बचन है।

आगे उस धर्मके स्वरूप न यगदर्शनादिक ही है। अथ मिथ्यादर्शनादिक नहीं हैं ऐसा बताया है अनंतर सम्यग्दर्शनका स्वरूप बताया आत सांगदेवता विशिष्ट असाधारण लक्षण कहा है।

जिसके दुधा पिपासा आदि दोष हैं (पाने पानेकी इच्छा है) वहा आत हो सका। ऐसे वर्धमान जैसे तोटाहूर सर्वा ही आत हैं। अथ प्रज्ञा चिणु महेश और बुद्ध पैगम्बर जैसे नहीं हो सकते। क्योंकि इनके दुधा प्यास है।

आत्मकारिकाओं आगम (चित्तशामनकी उत्पत्ति) का स्वरूप तीर ६ मा में उस आगमका लक्षण बता कर १० मा में तपस्या गुणका स्वरूप कहा है।

अंतर सम्यग्दर्शनके आठों अंगोंका बचन आठ कारिकाओं में है। जिनमें प्रथम "इदमेवेदशाचेनक" इत्यादिम निराशङ्कित जग का स्वरूप है।

● बहुतसी प्रसिद्ध पुस्तकोंमें "इदमेवेदशाचेनक" ऐसा पाठ है वह मशय है। प्रथम ता छोड़ो दाप है। क्योंकि श्लोकका अर्थ अंतर गुरु होना चाहिये। दूसरा अर्थ यह है कि "त व गही है इसी प्रकार है।" ऐसा न कह कर ऐसा कहना उत्तम है कि तव गही है और ऐसे हा है। इसलिये "च" पद और है। जैसे आगे दूसरे पादमें "तव गायन चापथा" में न (गकार)

आगे नि काश्चितादिका वर्णन कर १६-२०मी कारिकाओं
 उा लोकप्रसिद्ध पुरुषोमंसे एन-एन नाम बताया गया है निन्हों
 ने निष्ण डूत आदि जगमें उत्तर्णता प्राप्त की है । काइ ऐसा न
 समझे कि एन या दो तान आदि जगके होनेसे भी सम्यग्
 दर्शन कायकारा (सकल) हाता हागा ? इस शकाको दूर करने
 केलिये २१ मा कारिका बताया है । “यदि एन भी जग न्यू
 होगा तो यह सम्यग्दर्शन सामारिक दु कर्षोका (जम मरण
 आदि घटनाओंका) घातक नहीं हो सकना” ऐसा वर्णन है ।
 अतःतर २२मी कारिकासे लेकर तान कारिकाओंमें तान मूढत्व
 भावोंका वर्णन है । अर्थात् देखाइखी ना लौकिक-पापण्डि और
 वैयताओंका उपामना करनेसे सम्यग्दर्शनमें सक्षोपता प्राप्त
 होता है । इत्यादि कथा कर मूढत्व भावोंसे सम्यग्दर्शनको
 सुरक्षित रखने ऐसा उपदेश है ।

आग मद्रका रूपण भेद और इससे क्या उदाह होते हैं ऐसा
 यतान्तर उसके दूर करीका उपाय बताया है कि बाह्य कर्म-
 बन्धजनित सपदा हमारे निरन्तर बनी रहेंगी ? या पापामर्षोंके
 उदय होनेसे ही नाट हो जायगी इत्यादि मलाका पुरणोंके पुराण
 तथा चरितोंको पढ कर सुन कर मननकर सधर्माओंको तिरस्कार
 करके लिये कदाचित् भा अपरा मूढत्व न दिवाये, किन्तुऐसा
 विचारे, जो कि २८मी कारिकामें बताया है कि सम्यग्दर्शन जीव

के धामे 'च' अययपद और है । निससे अधामें गम्भारता-
 सुन्दरता-पूर्णता पा जाती है । “इदमेवेदृशचीय” ऐसा पाठ
 शुद्ध है इससे ऐसा ही पढना चाहिये ।

का सामाजिक गुण है। यह पापप्रभोंके फलको भोगनेवाले नारक शरार तथा पशुपत्तियोंके शरीरोंमें उत्पन्न हुये प्राणियोंके समान पापप्रवृत्तियोंके उदयजनित असम्भृत अथवा कुसंस्तृत पतित जातिधर्मोंमें उत्पन्न हुये मनुष्योंके भी करणलघिक निमित्तसे दर्शनमोहनीयका उपजान क्षयोपशम (कर) होता है परन्तु वे हीन-प्राणी शरारघारों होनेसे जैसे जैसे राखमें टबा हुआ (पडा हुआ) अकार-देशोप्यमान नहा है तो भाषण बलनेपर उत्तम शरारको पाकर देखीप्यमान अग्र्य होता है, इसलिये भाषिनी आगम द्रव्यनिक्षेप कर यह आत्मा पृथ्वी है, स्वल्प कालमें ही मुक्तात्मा होगा अग्र्य होगा ही" इसमें यह नीच प्रशंसनीय है, किन्तु उच्च नीच शराराधित होनेसे तो वचमानमें नीच ही है।

कोई प्राणी पुण्योदयसे उत्तम जानिमें उत्तम लोकपुण्य पात्रमें उत्पन्न हुये शरीरमें स्थित होने पर भी मिथ्यात्व मोह-नायके उदयजनित परिणामोंके होनेसे यह जावारमा पृथ्वी समीचीन-प्रशंसनाय नहा है जैसे उत्तम पात्रमें रखा हुआ विषामिश्रित दुग्ध। अतएव सम्यग्दृष्टि जीव उत्तम चार्यादिकोंको पाकर उन सम्यग्पुण्योका अग्र्य नहीं करता। यह विचारता है सम्यग्दृष्टि भी नारक शरार धारण करने हैं और मिथ्यादृष्टि भी देवता बनते हैं। तथा जल चाटालोंके रज रीपासे बने हुये शरीरके धारण करनेवाले नीच सम्यग्दृष्टि होकर तोर्टदूर हात है इसप्रकार नैमिनाथपुराण हरिश्चन्द्रपुराण आदिमें बताया हुआ श्रीनेमिनाथ स्वामीका पूज मन्त्रालि आदिको विचार कर चात्यादिकोंका मद नहा करता।

किंतु इतना भयंकर जानता और मानता है कि पतित-हान
जातिवाला महात्रहोंको तथा उत्तम अणुत्रहोंका भी नहो
धारण कर सकता।

यदि मान १२स्थाको हा मत देखो भविष्य भा देये। कि
समीचान धर्म के निमित्तसे प्रान भा नाच पयायको (शरारको)
छाड कर देवपयायको पाता है और जर्मके (मिथ्यात्वके)
निमित्तसे द्व भा प्रान जैसी नाच शरारको पाता है।

इससे यह निष्पन्न होता है कि जिसप्रकार करत पात्र की
(आधारका) नाचता उच्चता (सुन्दरता या भद्रापन) होतेसे
धीवर्तिका परिपाक (मूल्य) नहो है किंतु उसके उपादान
का सुगुणतासे ही मूल्य होता है। इसीप्रकार आत्माकी
पूज्यता अपूज्यता केप्रकार गरीरादि आधारोंको अपेक्षासे नहो
है किंतु सम्यग्दर्शादि गुणोंकी सुरयतासे है। किंतु गौणता-
से द्रव्य क्षेत्र काल और भाव भी साधक हैं। मनुष्य पयाय हा
शरीर ही मोक्षसाधक (मोक्षसाधक) है नच नहीं। उसमें गो उत्तम
जाति कुलमें उत्पन्न हुआ मनुष्यगणार ही मोक्षका साधक है
नच पतित जातिमकर नहा।

उसीप्रकार भक्त पेरारत गीर विदेह क्षेत्रमें उत्पन्न
हुये हा गंगर मोक्षसाधक हैं नच क्षेत्रों में उत्पन्न हुये नहा हैं।
दुपमादुपमा काल ही यज्ञ मोक्ष साधक है नच नहा। रत्न
लय भाव हा मोक्ष साधक है नच विभाव भाव नहा।

० हण्डावमपिणो कावक निमित्त कर भो काटमें विशेषता
नीस श्रौतप्रमदय भगवान सुपमादुपमा कालके नच तान

इस प्रकार मूढता और मर्दोसे रहित पूजाङ्ग सभ्यदर्शन-
को प्राप्त कर उसमें ग्लानता (शुक्ता) नहीं आये इसलिये
बुद्धियाँ (बीज आदि पैगंवरों) को तथा इनके उपदेशों द्वारा पाता
रामायण कुराण पुराण बाइबिल आदि शास्त्रोंकी तथा उनके
बनाय हुए ग्रन्थ तप (रोना रपना) अनुष्ठानोंको करनेवाले
ज्ञानिभक्तताकी बढ़ानेवाले, रामायण आदि सन्दर्भोंको
ताड़नेवाले अथवा कुटिल (हिंसामयी) मर्दोसे करनेवाले
उपदेश देनेवाले कुगुरुओंकी स्नेहसे (हमारे सहपाठी हैं-लोडर
हैं) आशासे (इनके मंत्र तंत्र यंत्रके मिलनेसे धन संपदा सतति
मिलेगी) मयसे ये ज्ञान दे देते गे राज्य दण्ड तथा चोरी आदि
कराय देते गे, गीकरी मुडगाय देंगे, इत्यादि अनन्त प्रकारके
निमित्तसे भी प्रणाम और भक्ति भावों (मोहन देना, चढ़ा देना
वगैरे) आठ महिना शेष रहे थे तबका समय भी उनके
माशमन्त्रक हुआ था अथ अथसर्पिणो फल नहा होता ।

त्रिप्रकार धीवधमान स्यात्तौ पातिका एष चतुर्दशोकी
अंतिम घटिकामें मुक्त हुए हैं तथापि सामान्यतासे लोग अमा
यस्याको निर्वाण तिथि कहते हैं-मानते हैं उसीप्रकार तृतीय
कालके ३ वगैरे ८१ मास (८१ पक्षमास) शेष था (जा कि
बेदाकेटो सागरका अपेक्षा विदुनात्र भी नहा कहा जा सकता)
तथापि स्वल्प होनेका अपेक्षामें चतुर्थ कालमें ही गिना
जाता है। पस्तबमें तो धीवधमानमें अंतिम काल पातिका
एष चतुर्दशो ही है उमा प्रकार धीवधमानमें भगवान्का
निर्वाण काल तृतीय काल (सुपमादृष्या) ही है ।

भदिर देना, उनका वाग्विपुस्तक वाटना आदि) को करके
पेसा कराने सम्बन्धनामें मलिनता जा जावेगी। ऐसा उपदेश है।

जब इशा, ज्ञान और चारित्र्य तीनों हो अथवा परसे ही
तो दर्शनको प्रथमता (मुख्यता) कर्ता है ? इसका समाधान
करनेके लिये चार कारिकाये बनाई हैं।

१ जैस रत्नरूपमें जानेवाला यात्रो जड़ जमे बैठकर
पहुंचेगा उसमें नहान इजा और नागुदा (जो दिशा विदि-
शाओंका ज्ञाता वाफा टेडा तिष्यरु भागोंमें ले जानेके लिये मोडता
दे चान्मे -युनात्रिकता करता है सा कणधार है) से तीन
साधन हैं उनमें नागुदा (कणधार) प्रधान है। २ ज्ञान चारित्र्य
की उत्पत्तिके लिये सम्बन्धना योगके समान है। ३ सम्बन्धना
ग्रहस्थ उस चारित्रवान् मागुसे श्रेष्ठ है जिसके सम्बन्धना नहीं
है। ४ सम्बन्धना तीनों तीनों श्रेष्ठ था और है तथा रहेगा।
इसका विरोधी मिथ्यात्व (दर्शन मोहनीय विभाव) लोकाय-
में जीवोंकी दुःखदायक था और है तथा रहेगा। इन चारों
हेतुओंसे सम्बन्धनाको प्रथम (मुख्य) माना है।

तथा इसका मुख्यताके अर्थ भी कारण है।

१ सम्बन्धना दुर्गतिमें नहीं जमेगा।

२-३ मनुष्य भी होगा तो उत्तम सज्ज/तोय कुलोंम ही
जमेगा तब वह ओजस्वी आदि गुणोंसे विशिष्ट होगा। धर्म
वर्ष और काम पुण्याथा का भोक्ता सद्गुणहरथ और लोभपूज्य
(भाव तिलक परित्राजक) होगा।

४ तथा सम्बन्धना ही देव पर्यायमें वीमानिक महर्षि देव

५ तथा चक्रवर्ती निधीश्वर सम्राटशालाया पुत्र्य होता है ।

६ और त्रिलोकपुत्र्य पचकृत्याणोंका भोक्ता तोर्धाङ्कर अङ्क-
पदको पावे है ।

७ तथा गित्य शुद्ध सुखमय ध्यानस्वरूप शिष्यपद पावे है ।

इनमस्त परमस्थानोंमें आदिके सञ्जाति १ सहस्रप्रहस्य २
और परिघ्राजक ३ इन तीनों को तो मिथ्यातो भो प्राप्त कर लेता है
किन्तु जन्मके सुरेन्द्रत्व १ चक्रवर्ती २ तोर्धाङ्कर ३ और निर्माण
४ इन चार परमस्थानोंको सम्ग्रहृष्टि हा पाता है । ऐसा
वताया गया है ।

इसप्रकार इस प्रथम परिच्छेदमें ४१ इत्यालोस कारिका गों-
की संगति श्र अलावद्ध है । इसमें कारिका ता दूर रहो एक भा
वाक्य या पद ऐसा नहीं है जो कथा हो-जिमके विना अर्थसंगति
श्र अलावद्ध बना रहे यद्वातक च वा एद अपि आदि ज्यय
पद हैं ये भी अर्थविरोधोंके छातक हैं । जिसप्रकार तत्याथा
सूत्रोंके समस्त पद अमोघ हैं उन्मीप्रसार इसके भा समस्त
पद अमोघ हैं । जिसप्रकार मयाधामिद्धि राजवातिक श्लोक-
घातिक आदि टीका गोंमें प्रत्येक सूत्रोंके पदवृत्त्य श्र पूज्य-
पाद अकल्क विद्यानन्दी आदिने विशद बता दिये हैं उसी तरह
इस रत्नकरण्ड श्रावकाचारका प्रत्येक कारिका गोंके पदवृत्त्य
वतायेवाला पृहत्त टोका (महावृत्ति) पाचोन होना चाहिये
तलाश कर रहे हैं । आशा है कि हमें शीघ्र सफलता प्राप्त होगी ।

धर्म सम्यग्ज्ञान परिच्छेद सम्बन्धी

वताते ~

सम्यग्दर्शनके अनन्तर सम्यग्ज्ञान वर्णनीय है इससे प्रथम उमका स्वरूप ७क्षण बताया है सम्यग्ज्ञान का चाच्य भाग श्रुतज्ञान (उपयुक्त श्रुतज्ञान) है जिसे आगम आग्नाय वे सूक्त श्रुत आदि नामा से बोलते हैं ।

जितक भेद ४ चार हैं । उाका स्वरूप विषय-आख्यात चाच्य और ताम एक एक कारिकाम बता कर इस द्वितीय परिच्छेदको पुण किया है ।

आगे सम्यक्चारित्रका वर्णन है जो कि तीसरा रत्न है । इसमें ४७ से तालोसमी कारिकामें इनका समाधान बताया है कि उस चारित्रका अधिपारा (पान) कैसे पुरुष होने हैं ? और वे किसलिये उसे वारण करते हैं ? तथा वह वारण करने वाला क्या कहता है ?

४८ वा कारिकासे ज्ञात होता है कि जब राग छेपको हटाता है तब हिसादि पाप स्वतः छूट जाते ही हैं । जब अधिपुरुपाथ को नहीं चाहता है तब कोई राजा महाराजाकी सेवा करता है ? नहीं करता जैसे वायुजला राजा इन्द्र अनिरुजन, राजा बालि आदिकोंने जब मोक्ष पुरुपाथका उद्घा (प्रादा) कर लीना तब चक्रवर्ती सम्राट भरतेश्वर राक्षण आदिका क्या सेवा की ? नहीं की । कि तु महाव्रती ध्याना हुये और ये ही उन्हींने पुने ।

४९ वीं में सम्यक्चारित्रका लक्षण और उमक समाप्त बताया है अर्थात् जो हिसादि पापोंका परित्याग वैराग्यके तथा राग और छेपके दूर करनेके लिये है यही सम्यक्चारित्र है । जो ईर्ष्याद्वेषके विषय भोगापभोगोंका बढ़ानेकेलिये है वह समीचीन चारित्र कहायि नहीं होना प्रस्ता बताया है ।

५० यह चारित्र्य के प्रकारका है। पहला उद्दीके होगा जिहाने प्रद्विषा आ दे प्रद्वोंका त्याग किया है। दूसरा प्रद्वस्थोंके भी होता है। यह ग्रन्थ उपासक ग्रन्थ-प्रद्वस्थोंका है इसमें सफल चारित्र्य (महाव्रतों) को विशेष न कहकर श्रवका चारका ही ध्यान १, १ को आदि कारिकाओंमें कहा है।

१० प्रद्वस्थोंके चारित्र्य तीन हैं। उन से प्रथम अणुव्रतकी घना कर अहिस्ताद अणुव्रतका लक्षण और उनके अतिचार दश कारिका १ में कह कर २३ को कारिकामें इनका फल बताया है। ६४ मी में परीक्षित अणुव्रतियोंमेंसे एक एक नाम बताया है।

यद्यपि जयकुमारके पाचों ही अणुव्रत ये परम स्वामीने परमितपरिग्रह 'अणुव्रत में " जयकुमारका उदाहरण कहा है इसमें यह ज्ञान होता है कि ७ पत्ने ग्रहणा भी परिग्रह है। जाति स्मरण होनेपर जयकुमारने अहिस्ता अणुव्रतादि समस्त ही विकल्पारिषों का धारण कर लिया था किंतु इनका इच्छा परिमाण नामक पत्र अणुव्रत बहुत ही प्रशन्ननीय प्रसिद्ध था।

१७ विकल्प चारित्र्य का दूसरा भेद जे गुणव्रत है उसका निरुक्ति और मंत्र बताया है।

६८ त्रिगुणव्रतका लक्षण और फल बताया है आगे उनही सोभा कह कर फल बताने हुये यह महाव्रती सट्टया हा जाता है किंतु

७ सो ही श्रावमाच ट्राचटाने व्मा टीका में बताया है कि "घनघान्यादिप्रयम्" इसमें भी आदिपद है उससे दासो दास भाषा गृह क्षेत्र द्रव्य सुवर्ण रूप्य आभरण यद्य इत्यादिका भा प्रमाण होता है।

महाप्रती नह। हांता इनको पुष्टिके लिये ७२ मां कारिका * है।

७२ यह गुणप्रती वर्धमान चारित्र्याग होता हुआ भां महा-
प्रती नही है क्योंकि महाप्रती तो इसप्रकारके हो हाते है
ऐसा इस कारिका में बताया है। बागे इसके नीचाार कहे हैं।

७४ दिग्प्रती होने पर अनद्यदण्ड ग्रन्थ होना है जिसके
भेद पाच है उनका स्वरूप बता कर अतोपार कहे हैं।

आगे ८२ मी कारिकामें भोगापभोगपरिमाणका स्वरूप
और प्रयोजन बना कर भोगना तथा उपभोगका उक्षण कहा है।

जो च जों निर्मा भी प्रकार योग्य (ग्याने योग्य) नही है
उनका परित्याग बताया है। यदि नहो त्यागोत तो अणुप्रत भी
नाह है। आगे से। तथा अमश्य अनिष्ट और अनुपमेव्योंका भी
परित्याग कसे।

८७ उम भोगापमे ग परिमाणको रति देा हैं नियम और यम
सेमा बताकर देा कारिकाओंमें नियमित काउरे लिये १० वस्तुओं
का नियम कते रहे। सेमा उपदेश है पुन ६० मो में अताप र
कह कर इस परिच्छेद के पूण क्रिया है। शिक्षावनाधिकार-

उस विद्वत् चारित्रका तीसरा भेद जो शिक्षाप्रत है
उसके भेद और नाम ६१ मो कारिकामें बता कर देगा-
वकाशिन शिक्षाप्रतका उक्षण और उसके स्त्राम को बताया
है बागे इसका द्रव्यावधि और योजनावधि कह कर कालावधि

* जिसका अर्थ शिशाप्रतका प्राण शास्त्रके न जानने
से यथाय नहो जाना जाता इसमें शिशाप्रत (ध्याकरण
की विशेषता है गभीरता है।

प्रथम ऋक्षण-और तिथि को बतनाया । उस उपयोगके दिना पाप क्रियाओंके न करे । किन्तु घम-अच्छा स्वाध्याय और ध्यान में तत्पर रहे । निद्रा त आदि धाम्नोंके भी न करे । आगे उपवास प्रोषण और प्रोषणपापवास का ऋक्षण कहकर अतीचार बताये हैं ।

आगे १२१ मी कारिकातक घैयावृत्य शिक्षावतना वर्णन है । तपस्वी महाप्रतियोगी भोजन पात्र प्रदान करता और उपात्र किसी प्रकारकी भा व्याज न होवे, यदि ही गई हो तो उसका प्रतीकार करे उनके भक्तिपुत्र द्वाय पर दात्र । उनके समयकी वृद्धिके भाषनोंका मित्राना तथा स्त्रायके चिन्ताओंका हटाता सा मय घैयावृत्य है । तथा नम्रभा भक्ति पूर्ण जो उद्दिष्ट त्यागियों का गौरव करता है सो दान है यह दान प्रहारभी प्रदर्योंके पापोंको नष्ट कर देता है । तथा उपात्रो प्रणाम (नमोस्तु) भाषके करनेसे सत्ताति आदि पुण्यकी प्राप्ति होती है । उचित समय पर स्त्राप भी अनादिकों का दान मुख्य के मनोवाशित भोगापभोगोंको प्राप्त कराता है । यही चार दान होते हैं । आहार १ औषध २ उपकरण ३ और घस-तिमा ४ के प्रदान कर भी क्षुधादि रोगोंकी व्यावृत्ति होती है । इससे ये घैयावृत्य हैं इनके कारणसे असख्यार्त भव्योंने इष्ट सिद्धि की है उनसे धापेण आदि चार महापुरुषोंके उदाहरण प्रमसे बताये हैं ।

तथा अद्वैत भगवानके चरणोंकी भक्तिपुत्रक पूजा करे । उस निमित्त कर स्वर्गादि सुखका प्राप्ति होती है जैसे श्री

यद्यमा स्यामीकी पुण्यमात्रसे पूजाके उद्देशसे जाते हुये मंडक
ने स्वर्ग प्राप्त किया था ।

अर्थात् इस चतुर्गुण विज्ञापनमे चित्तमन्दिर चित्तप्रतिमा-
स्थापन नित्य नैमित्तिक भष्टप्रकारा पुत्रन जोर्णाद्वार आदिका
भी ग्रहण ही पर्याप्त इनके करनेमे अपने और जनता के पापात्रयो
को ध्यावृत्ति (नाडि) होना ही इत्यादिक फल पर अतीचार
बताये हैं ।

अनन्तर १२० मा कारिकासे बाड कारिकाओंमें सहोदना
प्रतका कथन है । यह प्रतभा निरन्तर धारण करना चाहिये
न जाने कब मरण हो जाये प्रत्येक दिन रात घटी पल पिपल
इनमेंसे कोई भी चेता न । जब भुक्त अग्नि २६ जलमन् वज्रपात
सप्त सिद्ध ध्यात् पशु पक्षा मनुष्यान्वित उपमर्ग न होते हों, न
जाने कब आयुषां समाप्त (क्षय) हो जावे । इमन्त्रिये धर्मके
न छोड़ कर भाररका त्यागना ही समाधिमरण ही, सोके
सलेखना तथा स पास भी कहते हैं । इमका होना ही सर्पाका
फल ही इमन्त्रिय हमका प्रति समय न लेखनाके लिये पुण प्रयत्न
करना चाहिये ।

यथा यत् इत प्रकारका ही चेता घटा कर अनाचारोंको फल कर
इमका फल कारिकाओं में बताया है, जो नि अनन्त काल तक
रहता है अनन्तर १२० मा कारिकामें उस रत्नत्रय धराना फल
बताया है ।

या १३६ मा कारिकामें उन रायकोंके चारित्र्यका
(पदपदस्थानोंका) प्रतिमा (गुणस्थानरत्न) सबका कहकर
अनन्तर उनके प्रत्येक चारित्र्य १३ कारिकाओंमें बताया है ।

अनन्तर यद् वताया है कि प्रशसनीय ज्ञाता वही है जो मिथ्या-
त्वादि (विमार्जो) की कुचारित्रादिको तो शत्रु थीर उपयुक्त
सम्यग्दर्शनाशिकों को बन्धु (हितकारी) मानता है वही
अपना कटाण करता है ।

श्री श्रीसमतभद्रस्वामी वताते हैं कि इस ग्रन्थका नाम
"रत्नकरण्ड है इसमें निर्दोष समीचीन रत्नत्रय है इनके करण्ड
पिटारे-पात्र-आचार जो बनते हैं उनके समस्त अर्थों की प्राप्ति
सुगम होता है ।

श्री समतभद्रस्वामीका भावना है कि इस रत्नकरण्ड
को रचते हुये जो मुझे सम्यग् रत्नत्रयकी वृद्धि हुयी है वह
हमको सुख उनाय पावन करे और पवित्र करे ।

इस प्रकार इन सूक्त पारिजातोंके अनुवाद "साकी
भावना है कि मैं भी श्रावनात्रय-रत्नकरण्ड बनू और वैदेही
देह वारण कर शुद्ध ध्यानी धपक होऊ ।

श्रीसमतभद्ररत्न करण्डामिलावी -- गौरीलाल

उपोद्धात

वर्तमानमें विना धाराकाचार (उपासकाध्ययन) प्रसिद्ध है
उन मयोंम पृथक् प्राधान माननीय और सूत्ररूप तथा विगद्
स्वरूप यही रत्नरत्नधाराकाचार है ।

इसके निम्नपर—रचयिता आसमन्तमट्टम्यामा हैं जिन्होंने
सम्पन्न धर्मन्त देवका स्तुति वन्दना पणोंमें तर्कगद् द्वारे
स्थाद्वाद तदरका स्वरूप समर्पार्शों का तथा विभामार्शों को बहुत
अच्छेतरह विगद् यनाया है निम्नसे माग्निसिद्ध सूत्रिके—
यादीपेय, इहलाक परमैवका प्रसिद्धि, अनेकतात्मक हो वस्तु
स्वरूप है, समस्त हय नय और प्रमाणके गोचर है, क्षान्तिकद्वान्त
हो प्रमाण है व्युत्पत्तकृशानिर्गृत्तिनामर परम शुद्धध्ययन साक्षात्
शुद्ध मुक्त सिद्ध पदकी कारण (धर्मापारण—अमात्र कारण) है,
द्रव्य छह हा है युनायिक नहा इत्यादि वस्तुम्वरूपका वताने
य तथा काकरण गणित लोकविभाग चार्तिककृत काल
विभाग, नियम काग्यधमाग ऐतिहासिक लेख कथानक चरित्त
पुराण (जो कि करणानुयाग चरणानुयाग द्रव्यानुयाग सम्बन्धी
उदाहरणरूप हैं) साहताशास्त्र (जो कि भागभूमिज सद्ग
मनुष्योक्त म्यातमें दशभूमि मनुष्योक्त संहित में सन्धिमें
प्रधान पुरुषोक्त र हूये है,) स्मृति शास्त्र (जो प्रतिश्रुत आदि
चर्चा कुत्तरान अपन पूर्ण भयका स्मृतिद्वारा सिद्धोक्त
समाग नित्यरूप का कुत्तरवर्था और उनके सस्तरपद्धति,
को, वतानुयोजे) कल्प शास्त्र (जिनमें

चिरिस्ता विधान आदि वतानेपाले) इत्यादि भोक
शास्त्रं च ता शास्ता उपदिष्टा व्याख्याता रवामी थे
समस्त त्रिपये ध्यान चित्तव विचार चर्चा आदि
थो, आपके भाव निरन्तर धर्ममाननाओंसे पुष्ट और सब
की तब न.तिसे भद्र थे हितकारी थे इससे समस्त ग्रंथी
ग्रंथी गण मुनिराज साधु परमेश्वरि लोभ इनको "सर्वतभद्र"
साधक पदमे आह्वान करते थे ।

इनके गुणोंकी प्रशंसा आध्वर्यु जयप्रवलादि टीकाकारों
ने की है, और उनके चर्चोंके सूत्रोंकी धारिका गौरी काव्यों
को दशानना और चारित्र्यना प्रशंसा करनेमें भी ६ पौको अस-
मथा (अशक्त) बताया है ।

उन नमन्तभद्र नामाका रचा हुआ यह रत्नकरण्डध्रावकाचार
कितना महत्वपूर्ण है इसमें बताये हुये विभिन्न विधान कितने
सातिशय पुण्यस्वरूप हैं ।

इसके रचनोंकी सुसद्गति और रत्नत्रयकी उत्पत्ति वृद्धि
पुष्टि और फलप्रप्ति किस प्रकार का ज्ञाय इत्यादि कम-
काम अत्यन्त सुगम रीतिसे बताया गया है ।

इसके अनुष्ठान त्रिगं करनेसे चारित्र्य के वारण पालन साधन
और निवाहन करनेमें मनुष्य रजय रत्नकरण्ड बन जाता है ।

इस रत्नकरण्डध्रावकाचारकी वाक्यरचना तथा समग्रता
और उनका वाक्य वाचकविधान इतना उत्तम प्रशंसनीय
है कि उनके लिये हितकारी है जितना वृषभसेन आदि पूज्य

मतपत्र जो ऐहलौकिक पारलौकिक और अध्यात्म धर्म को वर्धमान करना चाहते हैं वे इस ग्रन्थको पढ़ें, मनन करें और इसमें बतायेहुये रत्नप्रथमयी चारित्र्योंको पालन करें ।

—निर्वाचक

श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचारका प्रकाशन ।

यह ग्रन्थ उतना ही मान्य पूज्य आदरणीय और सदागम माना जाता है जितना तत्त्वार्थसूत्र मेक्षशास्त्र । इसको प्रमाणता षडे २ विद्वान् तपस्यो निर्ग्रन्थ जैनाचार्योंने अपने रचे हुए ग्रन्थोंमें टोकाओंमें भाष्योंमें तथा धवल जयधवल जैसे सिद्धांत-ग्रन्थोंमें माना है ।

इसका मूल का रेका १५० हैं इनमें इतना गभीर प्रयोजनो-भूत अर्थ (तत्त्व) भरा हुआ है जितना देवागमस्तोत्रकी ११४ कारिकाओंमें जीवदृष्टाणाके मूठ मूत्रों में, पेज्जदोस कस्ताय-पाहुडके गाथा सूत्रोंमें ।

परच इनमें स अर्थ निकालनेवाला ऐसा होगा चाहिये जैसे अष्टशती आप्तमामासाके फर्त्ता श्रीभक्तक देव, अष्टसह-स्रोकें रचिपता विद्यानन्द स्वामी, तथा धवल और जयधवल सिद्धांतके टोकाकार धीरसेन और भगवज्जिनसेन स्वामी ।

इसमें जैसे पद पदार्थ शुद्ध निर्दाप हैं तैसे ही वे भव्या-त्माओंको शुद्ध निर्दापात्मक बनाते हैं ।

इसकी यह सस्कृत टीका उन श्रीप्रभाचन्द्राचार्योंकी रची हुई है जिन्होंने प्रमेयकमलमाताण्ड रचा है — तार्किक माननीय दृढप्रतिष्ठ प्रतिशक्तिमयहर

इस टीकासे पद और पदाधिकी जातकारी होने से चारित्र्य सर्वधो उदासी दूर होकर भव्य श्रावक उद्यमशील चारित्र्यवान बनते रहें इससे इसको मूलचारिकाओंके आगे प्रकाशित किया है।

तथा जो पद शब्द ऐसे हैं कि जिनका अर्था- अथवा प्रसिद्ध है उनके निरुक्ति द्वारा जैनेन्द्र व्याकरणके सूत्रानुसार धातु प्रवृत्ति प्रत्यय समास विग्रह आदि धता कर किया गया है तथा बहुतसे वाक्योंका अर्था कारणके न जाननेसे नियमविरुद्ध हो रहा था उसके जैनेन्द्रव्याकरणके सूत्र बताकर कारण विभक्ति और उपपद विभक्ति ज्ञात करायी गई हैं। कदो पर यतिदोष (विश्रामदोष) मात्रादोष ह-दोषोप युक्त पढ़ने पढ़ाने लग गये उनको छ-दशास्त्रय नियम टिप्पणोर्म बताया गया है।

कई एक सज्जन उपमान उपमेय आदि साहित्यसम्बन्धी अलंकार लक्षणादिककी यथाधतासे विरुद्धताकी तरफ मुक्तते थे उनके भी यथार्था भाव समझाया गया है।

बहुतसी बातें धूडक स धुमार्गी तारणपथी आदिकोंक सहचारसे अर्थोंमें अ यथात्य जाता था वह भी भावार्थोंमें जतलाया गया है। कुछ लोग इनमेंसे कई एक श्लोकोंके शेषक समझते और समझते थे उनके लिये हृदयगम (शुद्धलावद्ध रगत) लगाया है जिससे प्रत्येक चारिकाकी अर्थासंगति ज्ञात होता रहेगा।

इसप्रकार यह रत्नकरण्डश्रावकाचार प्रथमभ्य विद्यार्थी तथा चारित्र्यार्थी श्राद्धोंमें रत्नत्रयो धमको निरंतर धधमान करे ऐसी हमारी प्रिय भावना है। श्रीसम तमद्रभक्त —

गौरिलाल श्रावकाचाररत्नकरण्ड

